

इतिहास साक्षी है

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण
१९६० ई०
मूल्य तीन रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

श्रीमती रमा जैन को

वक्तव्य

इतिहास साक्षी है और इतिहास साक्षी नहीं है। ये कहानियाँ भी नहीं हैं। अधिकतर घटनाएँ हैं, घटनाएँ इतिहासपर आधारित। कुछ घटनाएँ शुद्ध इतिहासपर आधारित हैं, कुछ इतिहासके आभासपर। इस प्रकार ये ऐतिहासिक साहित्य प्रस्तुत करती हैं, इतिहास नहीं। आशा करता हूँ इससे पाठकोंका मनोरञ्जन होगा। यह भी आशा है कि ये ऐतिहासिक साहित्यका सृजन करनेवाले साहित्यकारोंके लिए कच्ची सामग्री भी प्रस्तुत करेंगी। इनमे-से अनेक 'इतिहास साक्षी है...' के शीर्षकसे 'धर्मयुग'में और 'घटनाएँ जो भुलाई न जा सकीं' शीर्षकसे 'अमृत पत्रिका' तथा 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'में छप चुकी है।

काशी }
१२।४।६० }

—भगवतशरण उपाध्याय

विषय-क्रम

नारीका पहला दर्शन	११	मैथिल कोकिल	१२८
जब क्षत्रिय ब्राह्मणका गुरु बना	१९	कनवाहेका मोर्चा	१३६
कपट-गज	२३	अस्मतका खून	१४२
भारतका कोलम्बस : विजयकुमार	२८	गोहलौतका राजतिलक	१४९
त्यागके चार चरण	३४	प्रश्नका उत्तर	१५६
बुद्धका दाँत	४१	गजनीका पण्डित	१६१
वैशालीकी गणिका	४७	दाहिर-कुमारियोंका बदला	१६९
जो झुका नहीं	५४	जब नारीके उत्कर्षका पहला	
सिकन्दरकी बेबसी	५८	सितारा डूब गया	१७३
चाणक्यका भविष्य दर्शन	६१	राजबकी अक्ल पाई है तुमने,	
जब चाणक्यने सन्तोषसे आँखें		बीरबल !	१७७
बन्द की !	६६	अम्बरनरेशका पुरस्कार	१८२
तिष्यरक्षिता	७३	जब सिकन्दरने राह चुराई	१८४
अश्वमेध	७९	इन्सानियतका पहला दावेदार	१८९
थीबियाका दौत्य	८४	मालवोंका वह जानलेवा तीर	१९५
मगधके महलोंमे	९०	सुगतकी सत्ता	१९९
बिहिस्तका महल	९६	जब नन्दने मण्डनका मूल्य	
जब रोमन महिलाओंने भारतीय		चुकाया	२०६
व्यापारकी रक्षा की	१०३	मुग़लिया दस्तरखान और शेर	२१२
जब रोम भारतीय काली मिर्चके		जब जानमाजके नीचे दिल्ली-	
मोल बिका	१०८	का तख्त पड़ा था	२१७
परमारका बन्धन और मोक्ष	११३	तख्तका नूर तुम हो, मैं तो	
दिहा	१२०	उसका चौखटा भर हूँ	२२३



इतिहास साक्षी है



नारीका पहला दर्शन

बात पुरानी है, बहुत पुरानी, इतिहाससे भी पुरानी । तबकी, जब दुनिया ही पुराणोंकी थी ।

हिमालयकी निचली उपत्यकामें अनेक ऋषि तब आश्रम बना तप-जप किया करते थे । उन्हीं आश्रमोंमें एक तपोवन ऐसे ऋषिका भी था जो यम-नियमोंसे अपने शरीरको असाधारण साध चुके थे । उनका विश्वास सिंह और अजशवक समान रूपसे करते थे; समान रूपसे सभी जीव उनका स्नेह पाते थे । उनके मस्तक और दाढ़ीके केश लम्बे और जटिल थे, नथनोसे बाल निकलकर हवामें लहराते और जटा तथा श्मश्रुका कुछ ऐसा योग था कि देखनेवालोंकी आँखें बस देखती रह जातीं और महर्षिके तेजके सामने मस्तक अपने आप झुक जाता ।

तब अयोध्यामें राजा दशरथ राज करते थे । तीन-तीन रानियोंके रहते भी उन्हें वशका सुख नसीब न हुआ । बड़े-बड़े यत्न किये गये, वैद्याोंने अनेकों प्रकारकी औषधियाँ दीं, उपचार किये, ऋषि-महर्षियोंने कितने ही मन्त्र-जोग, क्रिया-अनुष्ठान किये पर तीनों रानियोंमेंसे एक भी सन्तान प्रदान कर राजाके मनका दुःख न मेट सकी और न अपनी ही गोद भर सकी । राजा जब-जब दूसरोंको पुत्र-स्नेहसे आर्द्र देखता, पुत्रोंको गोदमें लिये पुलकित गात देखता तब-तब उसका आशा-बन्ध टूट जाता और बोझिल मनसे अपने भाग्यको वह कोसता । सरयूमें जब किसीको पिण्डदान या तिलांजलि करते देखता तब उसे अपने पितरोंकी याद आती, वंशके क्षीण हो जानेकी । स्वयं सूर्यको जलाञ्जलि देते उसकी अंजलि काँप जाती, आँसूकी एकाध बूँद उसमें टपक पड़ती । और सन्ततिके अभावसे संतप्त

राजा मन मारकर कह उठता—“अब पितरोंको मीठे जलकी जगह, लगता है, नेत्रोंका खारा जल ही मिलेगा !”

केवल मनकी तृष्णा ही, सततिका प्यार ही वंशके प्रति राजाके मोहके कारण न थे, कोशलका महाराज्य भी दशरथके बाद स्वामीहीन हुआ चाहता था, इसका भी दुःख राजा-प्रजा दोनोंको कुछ कम न था। पड़ोसी राज्य अयोध्यापर आँख गड़ाये थे और कुछ अजब न था कि राजाके देहावसानके पश्चात् पड़ोसी राजाओंकी अभियानमें आई सेनाएँ अयोध्याकी सीमाओंपर टकरा जातीं। सो दशरथने मन्त्रियोंको बुलाया, गुस्वर वसिष्ठसे मनकी बात कही। तब पुरोहितने सुझाया कि अगर ऐसा कोई व्यक्ति राजाका पुत्रेष्टि यज्ञ करायें, जिसका पापने कभी स्पर्श न किया हो, जो सर्वथा निष्कलुष हो, सभी प्रकारसे पुण्यात्मा—तब कही हमारी इच्छा पूरी हो सकती है। पर पाप-पकमें सने संसारमें ऐसा प्राणी मिल भी कहाँ सकता था जिसे पापने छुआ न हो ?

जब कुटुम्बोंके परिणामस्वरूप ही प्राणी मर्त्यलोकमें आता है, जब कुकर्म ही उसे जन्म-मरणके बन्धनमें बाँध देते हैं, जब भवसागर तरने-वालोंका एकमात्र आसरा कर्मों-कुकर्मोंका अभाव है, तब निश्चय इस धरापर जनमनेवाला हर कोई पापके स्पर्शमें उसकी व्यापक परिधिमें है। इससे प्रकट था कि ऐसा कर्मठ महर्षि न मिलेगा जो मुनिके बताये यज्ञका अनुष्ठान कर सके।

शंकित राजाने मुनिसे पूछा—“मुनिवर, ऐसा महाप्राण भला धरापर मिलेगा कहाँ, जिसको पापने स्पर्श न किया हो ?”

त्रिकालदर्शी महर्षिने अपनी व्यापक दृष्टि फैलाई और क्षणभर आँखें मूँद, फिर खोल, कहने लगे—“राज्ञन्, द्वन्द्वोंके इस जगत्में दोनों ही पक्ष वर्तमान हैं, निराकारका उत्तर साकार है, पापका पुण्य, मृत्युका अमृत, बन्धका मोक्ष। ऐसा पुरुष भी पृथ्वीपर है, जिसपर पापने कभी अपनी छाया नहीं डाली। मैं जो अपने नेत्र फैलाकर देखता हूँ तो हिमगिरिके

अञ्चलमें ऋष्यशृङ्ग उस दृष्टिपथमें साकार हो उठता है। पिताके तपो-वनमें जन्मसे रहते हुए, नगर-गाँवके प्रभावसे दूर, उस युवा-बालकने साधारण समारकी वृत्ति नहीं जानी है। उसने नरकके द्वारस्वरूप नारीका स्पर्श तो क्या उसका मुख भी नहीं देखा है। और यदि पृथ्वीपर कोई ऐसा है जो तुम्हारे पुत्रेष्टिका उचित ऋत्विज हो सकता है तो बस वही शृगी ऋषि है।”

पर जब ऋषिकी स्थिति ऐसी थी कि उसने अपनी युवावस्था तक नारीके दर्शन तक नहीं किये थे तब भला राजधानीमें उसके आनेकी सम्भावना ही कहाँ थी ? और गुहने कहा भी कि कठिनाई शृगीको वहाँसे राजधानीमें लानेकी ही है; क्योंकि उसने कभी अबतक आश्रमसे बाहर पग नहीं डाले हैं और उसके पिता तपोधन ऋषिवर उसपर और आश्रममें आनेवाले महर्षियोंपर सदा वरुणकी-सी दृष्टि रखते हैं। उस तपोवनमें जाते पापकी काया काँपती है, सभी जीव-जन्तु वहाँ जाते अपना औद्घत्य और ईहा आश्रमके बाहर छोड़ जाते हैं। कैसे कार्य सधेगा, यह कहना कठिन है। हाँ, एक ही चीज है, जो शृगीको इधर ला सकती है—रूपका मोह। पर रूपका मोह तो उसे है नहीं, रूप उसने देखा ही नहीं। फिर भी यदि किसी प्रकार नारी उसके यम-नियमको तोड़ सके तो सम्भवतः हमारा इष्ट सधे। अर्थात्, पुण्यको पापकी छायासे होकर निकलना होगा, पुण्यपर पाप द्वारा क्षण भर ग्रहण लगाना होगा, तभी अयोध्याकी गद्दी राजन्वती हो सकेगी। किन्तु आगे यह बात सोच मैं काँप उठता हूँ क्योंकि पापकी उत्तेजना अपने उपक्रमसे बाहर है। अब तक मैंने ‘धर्म’ और ‘मोक्ष’ ही साधा है, यह ‘काम’ कोई और ही साधे।

महर्षिकी बात राजाकी समझमें आयी ! महर्षि राजसभासे उठकर चले गये, राजाने मन्त्रियोंकी ओर देखा। एकने सुझाया, वारवनिताएँ यदि वहाँ भेजी जायँ और जो वे अपने सारे हाव-भाव, अपनी समूची चेष्टाएँ,

अपनी अशेष विलास-मुद्राएँ विधिवत् वहाँ विकसित करें तो कुछ आश्चर्य नहीं जो तरुण मुनिका मन डोल जाय, जो आस्था ढिग जाय ।

साम्राज्यके भीतर-बाहरके नगरोंमें सुन्दरसे सुन्दर वेश्याओंकी खोज होने लगी । ऐसी गणिकाएँ, जिनको देख पुण्यको काठ मार जाय, तप सिंह उठे, तब लाकर मन्त्रियोंने अयोध्यामें खड़ी कर दीं । उन्हें देख राजाको लगा कि इष्ट हथेलीमें आ गया है और उसका चित्त गद्गद हो गया ।

कर्णरथोंपर अभिसारकी सारी माया लिये कामकी नायिकाएँ हिमालयकी ओर चलीं, मन्त्रियोंके रथ अनुचर-परिचरोंकी छायामें उनके पीछे चले और एक दिन जब सूर्य भगवान् अस्ताचलके पीछे अपनी कमजोर पीली किरणें समेट रहे थे, अयोध्याका वह दल हिमालयकी छायामें जा पहुँचा । मर्हिषिका तपोवन वहाँसे दूर न था और रातकी चाँदनीमें भी लोगोंने देखा कि वहाँके जीव-जन्तु संयत हैं, कि तपोधन मुनिके तपके ऐश्वर्यसे वहाँके मानव-भिन्न प्राणियों तकके स्वभावमें अन्तर पड़ गया है ।

प्रातः जब लोगोंने नेत्र खोले तब देखा वनकी छटा असाधारण है । ऋतुराजका अनुकूल अवसर तो कार्यकी सिद्धिके लिए वैसे भी चुना गया था पर मधुऋतुका जो वैभव उस वनमें था वह भला अयोध्यामें कहाँ गोचर हो सकता था ? तब कुसुमोंसे लदे थे, लताएँ प्रसूनोसे झूम रही थीं और मकरन्दकी धारासार वर्षासे वातावरण मह-मह कर रहा था । जीवनके आरम्भके जितने साधन जीवधारी खोज सकता है, सृष्टिके आरम्भकी जितनी विभूति मिथुनको चाहिए वह सब वहाँ प्राप्य थी । किन्नरोंके जोड़े गिरि-शिखरके प्रपातपर कुलांच रहे थे, सभीता मृगी प्रिय मृगकी सींगोंसे मर्म खुजला रही थी, कोकिला कोकिलकी चोंचमें चारा डाल पुलकित ढेर रही थी । वारांगनाओंने जाना, अवसर समीचीन है और वे रत्नोंको छोड़, जन-संकुल परिवारको छोड़, श्रोणिभारसे अलसगमना, मदात्ययसे पग-पग-पर स्खलित होतीं, सालस नयनोंको बार-बार घूर्णित करतीं, पञ्च-

सायककी मूर्तिमान सेना-सी बालऋषिकी विजयको चलीं। चराचरकी गति थम गई, पाप और पुण्यका लेखा-जोखा करनेवाला वरुण हाथ-में तुला साधे सन्नाटेमें आ चुपचाप तपोधनकी ओर देखने लगा। सृष्टिकी महाविभूतियोंसे श्रृंगीका मानस बना था। पापको जीतनेवाला वह महर्षि वरुणका अन्यतम गर्व था। उसकी विजय वरुणकी विजय थी, पुण्यकी।

आश्रम शान्त और नीरव था। तप, शम, दम, संयमसे तृष्णाओंका सर्वत्र नियंत्रण किये था। कामकी सेना एक बार सहसा रुक गई, पर अकेले बालऋषिको देख उसने उसपर धावा किया। श्रृंगीके पिता समिधा लेने गये हुए थे, उनके शीघ्र लौटनेकी कोई सम्भावना न थी, कोई भय न था। पाप अपने भाव-संचरणमें लगा।

लास्यकी मूर्ति गणिकाओंके घुँघरू यकायक बज उठे। मृगोंने वेदिकाओंसे अपने मस्तक ऊपर उठाये और जो देखा तो कुछ ऐसे चकित हुए कि आधे कुचले तृण मुँहसे गिर चले और उन्हें उसका गुमान भी न हुआ। नृत्यकी ध्वनि जो आश्रमके प्रत्यन्तों तक गूँजी तो मृगीसे खेलते श्रृंगीने भी उधर देखा और बस देखता ही रह गया—विस्मयकी मुद्रामें सिर उठा, विस्मयकी मुद्रामें नेत्रोंकी पुतलियाँ घूम गई, विस्मयकी मुद्रामें तर्जनी चिबुकपर जा लगी।

सही, बालऋषिने अब तक नारी न देखी थी, न उसकी आकृति, न उसका रूप। और न ही उसने उसका मोहजाल जाना था। देखा और देखता रह गया। वह स्वयं असाधारण पौरुषका धनी था, अव्यय सौन्दर्यकी एकत्रित काया। चौड़े ललाटसे लम्बे केश पीछेको मुड़कर कंधोंपर लटक गये थे, भ्रमर श्याम दीप्तिमान थे। कन्धे शिराव्यंजित थे, भुजाएँ घुटनोंको छूती थीं, वक्षः विस्तार शक्तिकी सीमाएँ खींचता था। बल्कल उस बाल-रूपपर कसा था और तेज जैसे शरीरको घेरे-घेरे फिरता था। शक्ति और रूप अपनी अप्रत्याशित मण्डनहीन प्राथमिक ताजगीमें उसका अभिसिंचन

कर रहे थे और अब उसकी विस्मित मुद्रा वारांगनाओंके हियेको बेध चली !

वारांगनाएँ थिरकती हुई उसकी ओर चली और बालऋषि विस्मित उनकी ओर बढ़ा । कामका सहचर वसन्त मुसकराया, मदनने पाँचो बाण खीच तपोवनपर मारे । बाण लक्ष्यपर ठीक बैठे । बालऋषि बिध गया ।

थोड़ी देर बाद प्रमदाएँ अपना सौरभ तपोवनको भेंट करतीं, उसपर अपनी तृष्णाओंकी छाया डालती चली गई । श्रृंगीके पिता मुनिके लौटनेका समय हो चुका था और उनके आने तक ठहरे रहना विपत्तिसे खाली न था । हृष्टमन वे वहाँ लौटी जहाँ दशरथके मन्त्री अपने परिजनोँके साथ पल-पल उनके लौटनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे । लौटकर वारांगनाओने मन्त्रियोँसे विस्तारपूर्वक बालऋषिके पुण्य-प्रताप और उसपर अपनी विजयकी चर्चा की । मन्त्रियोँकी आँखोंमे आशाकी कोर चमकी ।

उधर वृद्ध तपस्वी जब आश्रम लौटे तो लगा जैसे तपोवनपर अशौच छाया हुआ है, जैसे पाप तपोवनपर कुण्डली मारकर बैठा है । ऋषिकी समझमे न आया कि आचारका भला उस आश्रममे निधन कैसे हो सकता है जहाँ वरुणवत् वे स्वयं यम-नियमोंका सचालन करते थे ? पर पापके प्रवेशका आभास उन्हें आश्रमके निवासियोँको देखकर ही मिल गया । मृग अब शान्त न थे, न अजोके जोड़े ही काम विरत थे, और न आश्रमके कपि ही पवित्र दिखते थे । ऋषिका मन तपोवनमें पापोदयके भयसे काँप उठा ।

सीधे श्रृंगीको खोजते वे उस निकुंजमे पहुँचे जहाँ शीतल शिलापर वह बल्कल फँके औंधे मुँह पड़ा था । पिताको देखकर भी न तो वह उठा, न उसने नमन किया, न आसन दिया, न बोला । पिता उसके इस अनजाने व्यापारसे चकित-दुःखी हो गये, बोले—“शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् ! श्रृंगी क्या हो गया तुझे ? मेरी अनुपस्थितिमें तपोवनको यह क्या हो गया ? और भला तेरा बल्कल कहाँ है ?”

“बल्कल दुष्टरिणीके तीर पड़ा है जिसमें गोतेपर गोता लगाकर भी शरीरकी ज्वाला शान्त न कर सका और अब तो पितृचरणोमे साधना करनेकी भी सामर्थ्य न रही।” अलसाया आधा सोता आधा जागता शृंगी कुम्हलाये मनसे बोला।

महर्षि तप गये। जाना कि उनकी अनुपस्थितिमें कोई आया-गया है, किमीने शृंगीके नरत्वको छेड़ दिया है। बोले—“बोल शृंगी, कह न सभी बातें।”

“क्या कहूँ, पिता, नये प्रकारके ब्रह्मचारी आये—मधुरदर्शन, हिम-धवल, रागरजित, कटि पर्यन्त केश कलाप वाले, मृदुतन, स्पर्शसुखद, नयनाभिराम कि देखता रह गया। उन्होंने अपने शरीरसे आलिंगित कर विविध प्रकारसे मुझे भेंटा, चाटा और प्यार किया और जब वे ब्रह्मचारी, जो तुम्हारे रुखे-सूखे क्रिया-प्रबन्धोंसे कृशित जटिल ब्रह्मचारियोंसे सर्वथा भिन्न थे, चले गये तब मेरी शिथिल काया भी जैसे डह चली, जो पुष्करिणी-के शीतल जलमें बार-बार नहाकर भी अभी डह ही रही है। मेरे अच्छे पिता, मैं उन ब्रह्मचारियोंके पास जाऊँगा।” शृंगी बोला।

महर्षिने जान लिया कि मानवगन्ध पुत्रको लग गयी है और अब तुपारका मारा कमल आचारकी छायामे न जी सकेगा। फिर भी वे दिनों उसे अगोरकर बैठे रहे, भरसक उसकी रक्षाका प्रयत्न किया। अपने वनावासमें उधर नर्तकियाँ मन्त्रियोंके साथ शृंगीकी प्रतीक्षामे बैठी रही।

पर तपका कार्य कष्टसाध्य है, आश्रममें चुप बैठे रहनेसे भी नहीं सघ पाता। तपोधनको एक दिन आश्रमसे बाहर जाना ही पड़ा। अयोध्याका चरमण्डल आश्रमके कोने-कोनेपर आँखे गड़ाये विचर रहा था और उसने तत्काल बारवनिताओंको सूचना दी कि तपोवन रक्षाहीन है, कि शृंगी अकेला आश्रममें डह रहा है।

आश्रमपर मदनका फिर धावा हुआ और इस बार उसने वहाँ न तन छोड़ा, न मन, शृंगीको नगरकी ओर वह उठा ले चला। प्रमदाओंने अतिगय विलासके सम्मोहनकी बात शृंगीसे पहले ही कह दी थी और यह भी कि तपोवनके वातावरणमें वह देवदुर्लभ भोग सरल साध्य नहीं, कि उसके लिए नगरके उद्दीपक परकोटेमें जाना होगा।

शृंगी वारागनाओं और मन्त्रियोंके साथ अयोध्या पहुँचा। उसने दशरथका पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। रानियोंकी कोख भरी, महर्षिका तपोवन उजड़ गया। वरुणकी तुला हाथसे छूट पड़ी, पुण्यका मस्तक झुक गया, पाप विहँसा।

जब क्षत्रिय ब्राह्मणका गुरु बना !

वात बहुत पुरानी है, उत्तर-वैदिक कालकी—जब महाभारतका युद्ध अभी हाल, केवल दो सौ बरस पहिले, होकर चुका था। वह काल उपनिषदोका युग कहलाता था। तब वैदिक ऋषियोंका युग समाप्त हो चुका था और वर्णोंके बीच एक नये संघर्षने जन्म लिया था। विश्वामित्र और वसिष्ठमे कर्मकाण्ड और पुरोहितोंके लिए कशमकश अभी लोगोंको भूली न थी, बल्कि उनके वंशजोंमे नये सिरसे, नई शक्ति और उत्साहसे वही कशमकश फिर उभड़ आई थी।

वैदिक कालमें ही ब्राह्मण ऋषियोंने पुरोहिताई अपने हाथमे भरपूर कर ली थी, यज्ञोंकी कुजीके रूपमे कर्मकाण्डकी पोथीके अपने विशेष ग्रन्थ भी उन्होंने अलग रच लिये थे जिन्हें वे अपने नामके सदृश ही 'ब्राह्मण' कहते थे। उधर राजन्योंने भूमिपर कब्जा कर लिया था। और देशके राजा और सामन्तोंके रूपमे वही स्वामी थे। क्षत्रिय राजाओंके अधिकारमे बड़े-से-बड़े जनपद आ गये थे और नये-नये जनपदोंके लिए वे अश्वमेध और दिग्विजय करने लगे थे। आदर्श 'एकराट् चक्रवर्ती' का था जिसके लिए राजा नित्य रक्तपात करते और दूसरोंकी स्वाधीनता कुचलकर अपना वैभव और ऐश्वर्य बढ़ाते।

राजाओंकी यह तृष्णा इतनी बढी कि अनेक बार ब्राह्मण ऋषियोंको उनके यज्ञोंको असफल करनेमे भी तत्परता दिखानी पड़ी। अर्जुनके परपोते जनमेजयके अश्वमेधको जब अपनी चतुराईसे उसके पुरोहित तुरकावषेयने अपवित्र कर दिया तब जनमेजयके भाइयोंने अपने क्षत्रिय बन्धुओं और अनुचरोंके साथ ब्राह्मणोंका नरसंहार किया। वह परम्परा अभी मरी न थी और दोनों पक्षोंके नये वंशधरोंमे भी राज्य था। तभीकी बात है यह।

वह उपनिषद्-काल था जब राजाओंको भूमि जीतनेकी तृष्णा भूमिकी उपलब्धिसे मिट चली। तब एक दूसरी तृष्णाने उनके भीतर घर किया। वह तृष्णा थी ज्ञान-विजयकी। अब उन्होंने ज्ञानके क्षेत्रमें अपना साका चलाना चाहा और चलाया भी। राजाओंके दरबार तब ज्ञानके अखाड़े बन गये। और उनमें ऋषियों और ब्रह्मवादियोंके शास्त्रार्थ होने लगे। अबके ज्ञान-गुरु ब्राह्मण नहीं क्षत्रिय थे, और वह भी क्षत्रिय राजा। उन्होंने प्रजाका रुख एक दूसरी ओर फेर दिया जिसका न कोई शरीर था, न कोई आकृति थी, जो न खाता था न खिलाता था, फिर जो सर्वशक्तिमान् था, और जिसे 'ब्रह्म' कहते थे। इन्द्रको मास और सुरासे छकाने-वाले भौतिक सबलवाले बेचारे ब्राह्मणोंको भला इस नये अशरीरी ब्रह्म और 'उसके अनुचर आत्माका बोध कैसे होता ? उनके इन्द्रका जाल इस नये ब्रह्मके इन्द्रजालसे कट गया और कर्मकाण्डका सारा आधार ही नष्ट हो गया। अब उनके लिए सिवा इसके कोई चारा न था कि वे राजाओंके अनुयायी बनते, उनके द्वारा आयोजित दरबारी शास्त्रार्थोंमें भाग लेते।

देशमें ऐसे दरबारी अखाड़ोंकी संख्या चार थी—पंजाबमें केकय, गगा-यमुनाके द्वाबमें पंचाल, काशी—जनपदमें काशी और उत्तर बिहारमें मिथिला। इनमें सबसे पूरबका दरबार जनक विदेहका मिथिलामें था। राजा जनक, जो रामचन्द्रके ससुर और जानकीके पिता थे वे सीरध्वज जनक थे, विदेह जनकसे भिन्न और बहुत पहिलेके। परन्तु विदेह जनक उनसे महान् माने गये क्योंकि उन्होंने विदेह जातिकी जनताका नाम विरदके रूपमें धारण कर उसे ऐसा रूप दिया जो ब्रह्मज्ञानी ऋषिका बाना बन गया—देह रहते उसने उन्हें विदेह अर्थात् जीवन्मुक्त बना दिया, यद्यपि वह उतने ही पार्थिव थे जितने उनके विदेहभिन्न अनुयायी। क्योंकि कहा जाता है कि एक पैर जहाँ उनका सिंहासनपर रहता था वहीं दूसरा जंगलमें रहता था—काश कि कोई समझ पाता कि चाहे उनका एक पैर जंगलमें रहता रहा हो दूसरा निःसंदेह सिंहासनपर जमा रहता था।

मिथिलाके पच्छिमके काशी जनपदके स्वामी अजातशत्रु थे और जैसे जनकके दरबारमे याज्ञवल्क्य आदि ऋषि जनकके उपदेशका अमृत अपने कानोंमे ग्रहण करते थे वैसे ही काशिराज अजातशत्रुके दरबारमे दृप्त बालाकि आदि ऋषि राजा द्वारा किये ब्रह्म और आत्माकी व्याख्या सुनकर अपना दर्प मेटते थे । वैसे ही पंचालोंकी राजधानी कपिलामे प्रवहण जैबलि अपनी पंचाल-परिषद्मे ब्रह्मका विस्तार करता था । सबसे पच्छिम उस मध्य पजाबमे जहाँसे राजा दशरथको उनकी छोटी रानी कैकेयी मिली थी वहीं कैकेय जनपद था । उस जनपदका स्वामी अश्वपति कैकेय था । उसी अश्वपतिकी यह कहानी है जो क्षत्रियोंके वैभव और ब्राह्मणोंके पराभवकी वार्तामे उपनिषदोंमे अमर हो गई है ।

उद्दालक आरुणि अपने आश्रममे एकसे एक विचक्षण ऋषिकुमारोंको ब्रह्माचरणमे दीक्षित करते और उन्हें वैदिक ज्ञानमे पारङ्गत करते थे । इन्हीं कुमारोंमे स्वयं उनका पुत्र श्वेतकेतु और बादमे विख्यात होनेवाले याज्ञवल्क्य थे । विद्याध्ययन समाप्त कर श्वेतकेतु आरुण्य और याज्ञवल्क्य ज्ञानकी दिग्विजयके लिए आश्रमसे बाहर निकले ।

अभी कुछ ही दूर गये थे कि विदेह जनकका रथ सामने आता दिखाई पड़ा । श्वेतकेतुका कुलागत दर्द जागा, इधर नये ज्ञानमे मजा हुआ मुसकराता राजन्य ब्राह्मणोंकी सकपकाई स्थितिको भाँप कर भीतर भी मुदित हो रहा था । राह कौन दे, प्रश्न यह था । और छिड़ गया शास्त्रार्थ । राजाने बहसके बीच अग्निहोत्र सबधी प्रश्न किये ? कुमार निरुत्तर हो गये, उनका दर्पिल मानस कुम्हला गया । उन्होंने राजाको मार्ग दे दिया । सन्तुष्ट मुदित राजाने कुमारोंको शिष्यत्वके लिए निमन्त्रित किया । याज्ञवल्क्य तो ज्ञानको इष्ट मान राजाके पीछे चले पर ज्ञानके धनी आचार्योंका कुलदर्प श्वेतकेतुमे जागा और उसने राजन्यको गुरु बनानेसे इन्कार कर दिया ।

पिताके आश्रमको लौट उसने महर्षि आरुणिसे पूछा—पिता, यह क्या पढ़ाया हमें तुमने जो राजन्यके प्रश्नके सामने हमारी एक न चली । पिताने

तथ्य जानकर कहा—वत्स, विद्या वह गूढ़ है, केवल राजाओंकी जानी है। और जो तुम जनकके पास लौटनेमें लजाते हो तो अश्वपतिके पास चलो, पर भूलो नहीं कि ज्ञान यह तुम्हें राजन्य ही देगा, ब्राह्मण नहीं, और कि वह दिशा मेरी भी अनजानी है।

और जब श्वेतकेतुने पिताकी बात मान ली तब पिता-पुत्र दोनों अश्वपतिके देश केकयको चले जहाँ राजा अपने ज्ञानका प्रसार सैन्धवोंसे शौरसेनों तक करता था, कुरुओंसे मत्स्यों तक। उसके राज्यमें न तो चोर थे न मद्यप और न स्त्रैण न अशिक्षित, और वह बड़े घमण्डसे कहा करता था—

“न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।

नानाहिताग्निर्नाचिद्वान्न स्वरो स्वैरिणी कुतः॥”

उसी राजाके दरबारमें जब आरुणि और आरुणेय पहुँचे तब अश्वपतिने उनका इष्ट जान उन्हें सबोधित कर कहा—“तमित्वाणी भव !”— हाथोंमें समिधा धारण करो !

यह राजाकी स्वाभाविक ही गर्वोक्ति थी क्योंकि क्षत्रियको गुरु बनाकर उसका ज्ञान पानेके लिए उसके सामने ब्राह्मण ऋषियोंकी दो पीढ़ी सिर झुकाये हाथ जोड़े खड़ी थी। उसके लिए वह समय निस्सदेह बड़े अभिमानका था।

मंत्र यह ब्राह्मण आचार्यका था, कुलपति ऋषिका, जिसका वह आश्रममें वेदाध्ययनके लिए आये नये ब्रह्मचारीको दीक्षित करते समय उच्चारण किया करता था। वह ब्राह्मण-गुरुका मंत्र था, इस अर्थमें प्रयुक्त कि ज्ञान तुम्हारा कच्चा है, उसी कच्ची लकड़ीकी तरह जो तुम्हारे हाथमें है, कच्चा ईधन, जिसे मैं अपने ज्ञानकी अग्निसे प्रज्वलित कर दूँगा और तुम ‘विदग्ध’ हो जाओगे।

श्वेतकेतु और उसके पिताने शिष्यके रूपमें प्रतीक स्वरूप ईधन या समिधा धारण की और राजन्य राजा अश्वपति कैकेयने उन्हें अपने ज्ञानसे विदग्ध कर गुरुका आदर पाया।



कपट-गज

वत्सराज उदयन यद्यपि अपने रोमाञ्चक कृत्योंके लिए विशेष प्रसिद्ध हो गया है, वह किसी अशमें भी युद्धसे विरत न था। जिस प्रकार पिछले कालके मुगल बादशाह विलाससे विमुख न होते हुए भी युद्धके प्रति जागरूक रहते थे उसी प्रकार उदयन भी मर्मकी प्यासके साथ ही खड्गकी प्यास भी बुझाया करता था। जिस घटनाका हम यहाँ उल्लेख करने जा रहे हैं उसमें युद्ध और विलास दोनोंके आकर्षक अंश मिले हैं।

युद्धके समयकी बात है, ईसासे प्रायः ५५० वर्ष पहलेकी। देशमें चार प्रबल राज्य एक दूसरेसे टकराते रहते थे—मगध, कोसल, वत्स, अवन्ती। विशेष रण-साज मगध और कोसलके मध्य, वैसे ही वत्स और अवन्तीके बीच सजा करते। महाभारत युद्धके कई पीढ़ियों पश्चात् जब गंगाकी बाढसे कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर बह गया, तब जनमेजयके वंशज निचक्षुने यमुनाके तटपर आजके इलाहाबादके जिलेमें, प्रयागसे कोई ३५ मील पश्चिम, कौशाम्बी नगरीमें अपनी राजधानी स्थापित की। वह राजधानी वत्सोंकी कहलाई और कालान्तरमें कौशाम्बीका राजा उदयन हुआ।

उदयन विलासी था। अनुराग उसके अन्तरको सदा अभिषिक्त रखता। और अपने रागमें उसने समीपवर्ती चराचरको रँग दिया। नारी न थी जिसके अन्तरमें उसके लिए टीस न उठी, नर न था जिसने अपने प्यारकी सौगन्ध उदयनके विलाससे न खाई। कौशाम्बीके महलोंमें मृदगकी स्निग्ध गम्भीर ध्वनि अट्ट-प्रकोष्ठोंको गुँजाती रहती, और घोषाका निनाद राज-प्रासादके कलश-कँगूरोंके ऊपर उठ दिशाओंमें छा जाता। घोषा उदयनकी

वीणाका नाम था और बीणा-वादनमे उदयनसे बढ़कर कोई निपुण न हुआ, न तब, न तबके पहले, न तबके पीछे ।

प्रासादका प्रमदवन अपने छोरोंकी छाया यमुनाकी लहरियोंपर डालता और जब तटके खुले निकुञ्जमे सजी दोलापर बैठे उदयन और उसकी प्रियाको सहचरियाँ झुलातीं तब उसकी पेंगभरी छायाको छूते ही कालिन्दीका गहरा नीला हृदय जैसे आनन्दसे डोल उठता ।

उदयन और अवन्ती (मालवा) के राजा चण्डप्रद्योत महासेनमे पुरानी अनबन थी । वत्स उत्तरमें था, अवन्ती दूर दक्षिणमे । पर दोनोंकी सीमाएँ एक-दूसरेसे लगती थीं और राजनीतिमे तो पड़ोसी ही स्वाभाविक शत्रु होता है, प्रकृत्यमित्र । सो उदयन और प्रद्योत भी स्वाभाविक शत्रु थे । निरन्तर दोनोंमे टक्करें होती और कभी अवन्ती कभी वत्सकी भूमिका एक टुकड़ा शत्रु-राज्यके हाथमे चला जाता । अन्तमे प्रद्योतने निश्चय किया कि शस्त्रधनी उदयन विलासके बावजूद यदि शस्त्रसे न जीता जा सका तो कपटसे ही क्यों न उसे वशमें करें, आखिर चतुर्विधा राजनीतिके ही अंग साम और दाम भी तो है । निश्चयको कार्यरूपमे बदलते उसे देर न लगी ।

वनोंमें माधव डोल रहा था, वासन्ती लताएँ सहकार वृक्षोंको अपने कलेवरमें लपेटे निहाल कर रही थीं, मञ्जरियों और कुसुमोंसे पराग बरस रही थी, भौरोंकी गूँजसे वनका कोना-कोना गुञ्जायमान था । तभी सीमान्त वनके रखवालोंने निवेदन किया—“देव, विशाल गज वनके एकान्तमे देखा गया है । देव उसके बन्धनके लिए शीघ्र पधारें । ऋतुराज यौवनपर है, वनका कोना-कोना सूर्यके प्रखर-किरणजालसे उजागर है ।”

राजा हस्तिकान्त लेकर सीमान्तके वनोंकी ओर नालागिरि हाथीपर सपद भागा । राजा हाथियोंके शिकारका बड़ा शौकीन था । नारीके सामीप्य सुखमें अगर कोई बाधा हैती तो बस इसी हाथीके शिकारकी, क्योंकि अच्छे गजके वनमे देखे जानेपर राजा फिर विलासकक्षमें नहीं रुक सकता था अङ्कशायिनी चाहे उर्वशी हो, चाहे रम्भा; चाहे मेनका, चाहे

चित्रलेखा । और यह हस्तिकान्त वीणा उसकी घोषासे भिन्न थी । घोषा वह तब निनादित करता जब नारीका कोमल अन्तर उसके मर्मको छूता होता और हस्तिकान्त वह तब स्वरित करता जब वनकी उपत्यकामे गज-राज अपनी सूँड़से गुजलक भरता होता । चला उदयन हस्तिकान्त वीणा लिये ।

पाया उसने वह विशाल गज, पर अकेला, जब उसके सहचर और आटविक-वनचर पीछे छूट गये थे । हस्तिकान्तके मादक स्वरसे उसे ऐसा लगा कि गजके पग थिरकने लगे, कि उसके गुजलकोंकी गति तीव्र और तालप्रवण हो गई । वीणा हाथमे लिये राजा हाथीको बाँधनेके विचारसे आगे बढ़ा । हाथी चुपचाप खड़ा था, विशाल, निश्चल कालकूट । वनचरोकी राह न देख शिकारी गजके निकट पहुँच गया, अतिनिकट, स्पर्शकी दूरीमे । और तब वह सहसा चिहुँका । गज प्रकृत गज न था, कपट गज था । सहसा उसका उदर कपाटकी भाँति खुल गया और अनेक सशस्त्र सैनिकोंने निकल कर उदयनको घेर लिया । गजराजको बाँधनेकी इच्छा करने वाला नरराज स्वयं बँध गया ।

×

×

×

उज्जैनीकी कारामे रहते साल बीत गये । ऋतुएँ सहसा आती, सहसा चली जातीं । राजाकी काराकी दीवारें मोटी थीं, उसके परकोटेमे उपवन न था । पर जब मधुकी रातें आकाशपर छा जातीं, जब कोयलकी कूक दीवारोंको छेद काराके अन्तरमे बिजलीकी भाँति कौंध जाती तब भला उदयन कैसे न जानता कि प्रकृति उसका उपहास कर रही है, कि जगत्मे वसन्त बगरा है, कि प्रियाकी यादमे कोयल टेर रही है ? और तन्त्रीनाद सहसा बह चलता, सहसा चुप भी हो जाता, क्योंकि उस नादका अर्थ क्या जो किसीको छू न पाये, जिसके स्पर्शसे किसीके रोम पुलक न उठें ? उदयनने देखा, उसकी काष्ठीकी दीवारें पत्थरकी हैं, और कौशाम्बी दूर उत्तर

है, पहाड़ोंके पार, जहाँ वसन्तमे भी उसके अभावमे हेमन्त छाया है, शिशिर-काँपता है। और वह तन्त्री घर देता।

पर तन्त्रीवादनमे उदयनका कौशल किसका न जाना था। उसके नादसे शिप्राका अन्तर वैसे ही काँप उठा करता था जैसे यमुनाका। और शिप्राके तटपर उज्जैनीके राजाके अभिराम प्रासादमे एक नितान्त कमनीय काया थी, प्रद्योतकी सुन्दरी कन्या वासवदत्ता। वासवदत्ता अनाघ्रात कुसुमकी भाँति टटकी, अलोनी मजरीकी भाँति, प्रातः अछूते मन्द समीरणकी भाँति पराग निर्मित काया-सी थी। पर उसके पावन हियेमे भी उदयनके रागका कम्पन घर कर चुका था। बहुत पहलेसे जब वत्सराज अभी कौशाम्बीमे ही था वह उसके राग-वैभवकी कथा सुन चुकी थी। तन्त्रीनादपर उसकी प्रभुता वत्ससे आने वाले गायक उसके पितासे बताते, स्वयं उससे बखानते और उत्कठित मृगीकी भाँति वत्सकी ओर, उत्तर कालिन्दीकी धाराकी ओर वासवदत्ता अपनी वीणाकी झंकार प्रवाहित कर देती—कौन जाने अनिलवाही राग कदाचित् वत्सराजके तन्त्री-नादको छू ले। और जो पुलक इस असम्भव कल्पनासे उसे हो आती उसका आनन्द अत्यन्त गोपनीय था, उसकी सखियोंका भी अजाना।

काराका तन्त्रीनाद जब दिगन्तको लहरा चला तब वासवदत्ताके अन्तरने भी वह टेर सुनी, अपने पुस्कोकिलकी टेर, जिसके सुनने मात्रसे उसकी काया काँप उठी।

पितासे वासवदत्ताने अनुनय की कि उसे उदयनके वीणावादनका लाभ हो और प्रद्योतने उदयनसे वीणा सीखनेकी आज्ञा कन्याको दे दी। उदयन और वासवदत्ता वीणाके माध्यमसे मिले। दोनोंके राग एक दूसरेको विकम्पित करते और धीरे-धीरे अनुरागके अंकुर दोनोंके हियेमें फूट पड़े। उदयनका राग-सौरभ जब शिप्रातीरके उस राजावासमें विमान भूमिके चाँदनीमें चमकते तलपर झरने लगता तब जैसे चराचर सहसा ठमक जाता, वासवदत्ताके भीतर कामनाओंकी बेलें लहरा उठतीं। अन्त कमनीय साथें उसे

*आन्दोलित कर देती और उसके सालस नयन अपलक तन्त्रीके तारोंपर जादूकी-सी फिरती राजाकी उँगलियोंको निहारने लगतीं। दोनोंने एक-दूसरेको जाना, दोनों मद गये।

प्रद्योत अब अवन्तीके साथ-साथ वत्सका भी राजा था, उज्जैनीके साथ कौशाम्बीका भी। पर जहाँ उज्जैनी रागध्वनित थी वहाँ कौशाम्बी राग-हीन सूनी हो गई थी। उसका नायक उज्जैनीका बन्दी था।

एक दिन सहसा उज्जैनीके उत्तर द्वारसे एक हाथी निकला और राज-पथपर दौड़ चला। उज्जैनीके नर-नारी निद्रामग्न थे, शिप्राकी लहरियाँ निश्चित सोती थीं, प्राचीरोंके पहरए ऊँध रहे थे और हाथी उत्तरकी ओर भागा जा रहा था। जिस कपटसे अवन्तीके राजाने वत्सराजको बाँधा था उसी कपट-गजकी आकृति वाले नालागिरिपर उदयनको भगाकर उसके मन्त्री यौगन्धरायणने राजमातासे की हुई अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

हाथी भागा। राजा आगे बैठा वीणा हाथमे लिये था, पीछे उसकी कमरसे चिपटी वासवदत्ता बैठी थी। और पीछे सेवक यौगन्धरायण नकुली (तोड़ा) का मुँह खोले सोना बरसा रहा था जिसमे पीछा करने वाले शत्रु सैनिक सिक्के चुननेमें लगे रहें और नालागिरि कौशाम्बी पहुँच जाय। नालागिरि कौशाम्बी पहुँचा, वत्सका विलास लौटा, कौशाम्बीकी यमुना लहरा कर बही। और कौशाम्बीके कलावन्तोंने राजाका वह वासवदत्ताके साथ पलायन अपने साँचेमें ढाल लिया। अनेकानेक कौशाम्बीके मिट्टीके ठीकरोंपर यह अभिराम कथा खुदी मिलती है।

भारतका कोलम्बस : विजयकुमार

विजय कोलम्बस और वास्को दि गामाकी परम्पराका था। उनका ही सुदूरका पूर्ववर्ती। उसकी लका-यात्राकी कहानी साहित्य और कलाकी कृतियोंमें लिखी है। अजन्ताकी भित्ति-चित्रोंसे भी अधिक सजीव अतीव मांसल उत्खचन उस यात्राका कठोर शिलाओंपर मिलता है।

और यह पत्थरमें लिखी कहानी, जिस विजयकी है, वह राजकुमार था, देश-निकाला राजकुमार। समुन्दर लाँघनेकी जितनी कथाएँ आदमीने गढ़ी हैं, उन सबसे सजीव, सबसे सच्ची, सबसे रोमाचक लोमहर्षक कथा इसी राजकुमार विजयकी है, जिसने उत्तर भारतमें जन्म लेकर लंकाकी विजय की; उसके नामकरण किये—ताम्रपर्णी, सिंहल। आज हम उसीके दिये 'सिंहल' नामका व्यवहार लंकाके लिए कर रहे हैं; और सदियोंसे हमारे पूर्वज, हमारे साहित्य करते आ रहे हैं।

बंगालकी दक्षिणी सीमापर, सागरतटके ताम्रलिप्तिके वनोंमें विकराल दस्यु दर्पिल रहता था। दर्पिल कठोर और साहसिक था। साहसका कोई कार्य न था, जिसे वह सहज रूपसे अनायास न कर ले। उसके शरीरमें कमानकी लचक थी, शेरका हल्कापन था, सुअरकी निर्भीकता थी, साँड़का बल था। भीषणता उसके कार्यमें अधिक थी, कायामें कम। अनेक लोगोंको उसकी वह ऊर्जस्वित् शिराव्यंजित काया कमनीय लगती। पर उनकी अपनी-अपनी सीमाएँ थीं, अपने-अपने भय थे।

ऐसे ही लोगोंमें बंगराजकी कन्या नाटिका थी। नाटिका धूमकी आवर्त-मयी वर्तिका थी, शरच्चन्द्रकी मरीचियों-सी कोमल ! और उसे दस्यु बड़ा रुचता। उसका प्रत्येक भग, प्रत्येक मुद्रा उसे भली लगती। अनेक बार उसने उसे देखा था। पहले जब उसने उसे देखा था तब वह दस्यु न था।

दूसरी और तीसरी बार भी उसने उस सैनिकके बेटेको पिताके सामने अनुनय करते ही देखा था। पर अगली बार उसकी भंगिमा बदल गई थी। सहसा उसकी मुद्रा नितान्त पुरुष हो उठी थी। फिर उसे किसीने हँसते न देखा था, रोते न देखा था। और एक दिन, वह नगरसे गायब हो गया था। उसके पिताने उसे खोजा था। उसके राजाने उसके लिए ढिंढोरा पिटवाया था। उसका पता देनेवालेको पुरस्कार घोषित किया गया था। पर, किसीने उसका पता न पाया था।

पर उसकी लूट जारी थी, सार्थवाहोंकी लूट, राजकोषकी लूट, नगरोंकी लूट। ससारसे अब उसे कोई नाता न था। अगर उसकी ममताकी कोई डोरी थी, तो बस नाटिका। और एक दिन जब, नगर राजकन्याको व्याहने आये चम्पाके राजकुमारकी बारातसे भरा था, जब तुर्य और दुन्दुभीकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज रही थीं, जब प्रसाधिकाएँ वधूको विवाहके लिए सजा रही थीं, तभी सहसा दर्पिल महलोंमें घुस आया था, और राजकन्या गायब हो गई थी। फिर किसीने उनका पता न पाया था—न दर्पिलका, न नाटिकाका।

दोनों पूर्व सागरसे उठकर पश्चिम सागर तटपर चले गये थे, लाट देश, दक्षिण गुजरात। वही, पहले मधुके दसवें महीने बाद, राजकन्याको एक पुत्र हुआ और एक पुत्री। कुमारका नाम था सिंहबाहु, और कुमारीका सीवली। दोनों, दो देह एक प्राण थे; एक तन, एक छाया। और, तारुण्यके आरम्भमे ही दोनोंने परस्पर विवाह कर लिया। सिंहबाहुने सिंहपुर नामक नगर बसाया; और उसे अपनी राजधानी बना, वहींसे सारे लाटपर राज करने लगा।

अनेक सन्तानोंका वह सिंहबाहु पिता था। एक-एक कर बत्तीस सन्ततियाँ उसे हुई। इनमे सबसे बड़ा विजय कुमार था।

विजय कुमारकी प्रकृति नितान्त अदम्य थी, उग्र और कठोर। अपने साथियोंको ले, वह पिताकी प्रजाको पीड़ित करने लगा। और जब, उसका

प्रजापर अत्याचार असह्य हो गया, तब सिंहबाहुने और उपाय न देख उसे उसके साथियोंके साथ राज्यसे निकाल दिया ।

सात सौ विक्रान्त मित्र अपनी स्त्रियोंके साथ विजयके पीछे चले । दो विशाल पोतोमे वे लद गये । एकमे पुरुष, दूसरेमे अनुचरों और कुछ सैनिकोंके साथ स्त्रियाँ । जहाजोंने लगर उठा लिये । पश्चिमी सागरमे दक्षिणकी ओर वे चले ।

पोत कुछ काल तो अनुकूल वायुके सहारे चलते रहे । प्रसन्न विजय निर्वासित होकर भी मित्रोंके बीच सागरकी लहरोंपर भी प्रसन्न ही था । पोतोंपर जीवनकी सारी आवश्यकताएँ संग्रहीत थी—खाद्य और पेय, वाद्य और गायक, सभी । और कब दिन हुआ, कब रात हुई, किसीने न जाना ।

पर एक दिन जब दिशाएँ प्रसन्न थी, पश्चिमका आकाश सहसा मैला हो गया । देखते-ही-देखते वह मेघोंसे भर गया । काले घुमड़ते मेघ, उनये-ठसे मेघ, पहले, न तड़पे, न बरसे; बस आकाशको भरते गये और सहसा दिनकी रात हो गई । प्रकाशके सारे द्वार मेघोंने बन्द कर दिये । फिर पवन उठे, उनचासो पवन । अब मेघ भी तड़पे । जितना ही वेग पवनका था, उतनी ही गरज मेघोंकी थी । घने मेघ, कुपित मारुत, अन्धी दिशाएँ; पोत छिन्न-भिन्न हो गये ।

कुछ काल तक तो मांझियोंने आँधी-पानीके होते भी दोनों पोतोंको एक साथ रखनेका यत्न किया । पर क्षुब्ध सागरकी गगनचुम्बी लहरोंके आगे उनकी एक न चली । दोनों जहाज दो ओर बह गये । स्त्रियों वाला किधर गया, इतिहासने न जाना । मधुयामिनी-सी सुकुमार, जुही-सी उज्ज्वल, स्वप्न-सी मधुर नारियाँ थी उसमे । पर, तूफानने कब भला मृदुताकी साख रखी !

पर, विजयका पोत बच गया । तूफानके सकट झेलता, अन्तमें, वह किनारे जा लगा, और प्रसिद्ध पत्तन सूपारिककी बन्दरमे उसने आश्रय

लिया। आजका, सोपारा ही उस कालका सूपारक था—पश्चिमी समुद्र तटपर भारतका प्रसिद्ध बन्दर।

सूपारकके नर-नारियोने विजयका सहृदय स्वागत किया। उसे अर्घ्य-दान दिया। उसका अभिनन्दन किया। उसे रहनेको प्रासाद दिया। पर, उद्दण्ड विजय अपने व्यवहारसे न चूका, कैसे भी न चूका। उसके सैनिक आपानकोसे निकल राजमार्गपर दगे करते। नागरिकोंको सताते। उनका अपमान करते। दम्पतियोंको छेड़ते। अन्तमें, सूपारककी जनता क्षुब्ध हो उठी। पहले, उसे देश-निकाले राजकुमारका मोह था। उसने उसे शरण दी। पर, जब विजय और उसके मित्र सूपारकके शत्रु बन गये, अपने आश्रयसे ही शत्रुता करने लगे, तब लाचार, जनताने विजय और उसके मित्रोंको मार डालनेकी ठानी। भाग्यवश विजयको सूपारकके नागरिकोंके षड्यन्त्रका पता चल गया, और उसने संकटसे पहले भाग जानेका प्रबन्ध कर लिया। अनेक पोत सज गये, और नागरिकोंकी आँख बचा विजय अपने साथियों सहित सूपारकसे निकल भागा।

पश्चिमी समुद्र-तटपर, जहाँ आज भड़ौच है, वहाँ तब प्रसिद्ध बन्दर भरुकच्छ था। उसी भरुकच्छके विशाल बन्दरमे विजय अपने साहसिक साथियों सहित उतरा। पर भरुकच्छकी भूमि भी उसे न भायी। वस्तुतः भूमिके भानेकी कोई बात न थी। सारा दोष उसके और उसके सैनिकोंकी उद्दण्डताका था। सूपारकमे किये उसके अपराध भरुकच्छमे कबके पहुँच चुके थे। वहाँके नागरिक, रक्षक-सैनिक चुप थे। उन्होंने विजयके बन्दरमें प्रवेश करने या भूमिपर उतरनेमें बाधा न डाली। पर वे सन्नद्ध रहे, कि यदि नवागतोंने उनके आतिथ्यका दुरुपयोग किया, तो उनका व्यवहार विजयके साथ सूपारकके नागरिकोंसे सर्वथा भिन्न होगा। दो-चार दिनोंमे ही, दो-एक मुठभेड़मे ही प्रगट हो गया कि भरुकच्छमे विजयके साथियोंके पैर न टिक सकेंगे। फिर तो, विजयके जहाजोंने लंगर उठा लिया।

अब, विजय दक्षिणकी ओर चला। गन्तव्य उसका जाना न था। पर,

चला वह दक्षिणकी ओर । तटके दृष्टिसे ओझल होते ही तूफ़ान आया । विजयके माँझियोंने सब कुछ किया, जो सम्भव था । पर जहाज़ोंको छिन्न-भिन्न होनेसे वे न बचा सके । बेड़ेके अनेक जहाज डूब ही गये, अनेक टूटकर बिखर गये ।

पर साहसी विजय सहमा नहीं, तूफ़ानके वेगमें समाता, सागरकी टूटती लहरोसे टकराता, उसे पार कर ही गया । और पार कर जब वह प्रकृतिस्थ हुआ, तब उसके माँझियोंने बताया, कि अब वे भारतके पश्चिमी तटसे पूर्वी तटकी ओर पहुँच रहे हैं, और भारतके दक्षिणतम छोरको छू रहे हैं । पास ही केरलकी छूटती भूमि सागरके भीतर घुसती चली गयी थी । कुमारीकी वह भूमि माँझियोंको सर्वथा अनजानी न थी ।

अब विजयके बचे बेड़ेका मुँह पूर्व-उत्तरकी ओर हो गया था; माँझियोंने रामेश्वरम्का नाम सुना था, पर उसे देखा न था । कभी उधरके सुदूर दक्षिणकी यात्रा न की थी । उनका विचार था कि वे ताम्रपर्णी नदीके मुहानेकी ओर बढ़ चले हैं । बड़े प्रेमसे वे उधर बढ़ते गये । आज कावेरीके दक्षिणमें, जो ताम्बरबनीकी धारा है, वही तब ताम्रपर्णी कहलाती थी; और समुद्रके सयोगसे वह अनन्त मात्रामें मोती उगलती थी । उन मोतियोंका प्राचीन ससारमें बड़ा मूल्य मिलता था । भारतीय माँझी और सौदागर उस कालसे पहले और बहुत पीछे तक पश्चिमके देशों-नगरोंमें ताम्रपर्णीके मुहानेके मोती बेचते रहे थे । विजयके माँझियोंको भी स्वप्न-देश जैसे अनायास मिल गया । वे प्रसन्न पूरबकी ओर बढ़ चले ।

पर वह पूरब न था । उन्हें दिशा-भ्रम हो गया था । वे दक्षिण-पूर्वकी ओर बढ़ रहे थे । अनजाने वे रामेश्वरम्से पश्चिमसे सेतुबन्धसे टकराते दो दिनोंमें लका जा पहुँचे । पर जाना नहीं उन्होंने, कि वह लंका है । उन्होंने बस यही जाना कि वे ताम्रपर्णीके मुहानेपर भारतके ही तटपर जा पहुँचे हैं । उस भूमिको कहा भी उन्होंने, ताम्रपर्णी । और तभीसे लंकाका दूसरा नाम

ताम्रपर्णी पडा। वह नाम भारतमे पीछे इतना प्रसिद्ध हुआ कि उत्तरके अशोकने भी उसका उसी नामसे उल्लेख किया।

विजयने खोजा कुछ था, और कोलम्बसकी भाँति पाया कुछ। पर जो कुछ उसने पाया, उसका सदुपयोग किया। सूर्यारक और भरुकच्छके कटु अनुभवने उसे अब तक समझदार बना दिया था। अब उसने सबसे सद्ग्य-वहारकी शपथ ली थी; और स्वयं भी निश्चय कर लिया था कि राज्यकी स्थापना कर वह विधिवत् प्रजाका पालन करेगा, भूमिको जोतकर देशको सम्पन्न करेगा।

विजयने अपनी बात रखी। उसके साथियोंने अपनी शपथ रखी। देशके मूल निवासी वेदा उनके अनुचर बने। उनके सहयोगसे विजयके साथियोंने देशकी भूमि बनायी, उसे जोता, उससे अन्न उपजाया। अपनी नारियाँ खो चुकी थीं, मगध-बंगालसे, लाटसे उनका आना सम्भव न था। वेदा-नारियोंको, दक्षिण भारतसे आने वाली पाण्ड्य देवियोंको उन्होंने अपनी पत्नी बनाया। नये मानवके योगसे धरती लहलहा उठी। विजयकुमार बादमें विजयसिंहके नामसे प्रसिद्ध हुआ और उसके नामसे लकाका एक और नाम पडा—सिंहल। सिंहलका मुक्ता-सम्पन्न देश पन्नेके रगका हरा-भरा था, बाँसकी कोंपलों-सा मणिमय। विजय उसके रागमे बैधा, फिर भारत न लौटा।

त्यागके चार चरण

१

वाण-विद्ध हंस कुमारके निकट गिरकर छटपटाने लगा। कोमल अन्तर कभीसे ससारकी कोमलताओंसे चिन्ताकुल था। जीवनकी मधुरता दूसरोंके करुण कोलाहलसे विषाक्त हो गई थी। 'आर्त सुखी क्योंकर हो?'—की चिन्ता अहर्निश जागृक बनाये कुमारने उसे उठा लिया पर वाण निकालते ही रक्तकी धारा बह चली। हाथ लाल हो गये। जलसे धोनेके बाद जब चञ्चु-पुटमे जलकी बूँद गई तब सज्ञाहीन हंसने नेत्र खोले।

देवदत्त, सिद्धार्थका चचेरा भाई, आहत पक्षीकी खोजमे आ निकला। घण्टोंकी भाग-दौडके बाद उसे यह पक्षी मिला था। उसके अमोघ लक्ष्यका पुरस्कार सिद्धार्थके हाथोंमे था। देवदत्तने पक्षी माँगा। कुमारने कुछ उत्तर न दिया। आखेटके श्रमसे देवदत्त वैसे ही थका था। उसकी वन-माला उसकी व्यस्ततासे मुरझा गई थी। अब जो उसने कुमारके हाथोंमे अपना श्रम-फल देखा, जब अपने सदाके ईर्ष्याके केन्द्र सिद्धार्थको उसे सहलाते पाया, तब क्रोधसे वह जल उठा।

सिद्धार्थने उसे गाली दी; सिद्धार्थने शान्तिपूर्वक हँसकर उसे उत्तर दिया—“तू अपना मरा हुआ हंस यमसे माँग। यह जिलाया हुआ मेरा है।”

जला हुआ देवदत्त शाक्योंके सन्थागारमे पहुँचा। संसद्के सदस्य उठ चुके थे, पर सिद्धार्थके पिता राजा शुद्धोदन व्यवहार (कानून) के पण्डितोंके साथ बैठे कथोपकथन कर रहे थे। द्वारपालने निवेदन किया—“कुमार देवदत्त, कुमार सिद्धार्थ।”

शुद्धोदनने सिरके संकेतसे उन्हे आनेकी अनुमति दी । आगे देवदत्त पीछे सिद्धार्थ धीरे-धीरे सभा-भवनमें घुसे । राजाने उन्हे जब आवेशमें प्रवेश करते देखा तब आश्चर्य हो बोल उठे—“कुमार देवदत्त, कुमार सिद्धार्थ, सभा-भवन सघकार्य और अभियोग-विनिश्चयका स्थल है, कहना न होगा ।”

“तभी तो वादीके रूपमें उपस्थित हुआ है, महाभाग ।” देवदत्त चेष्टाको यथासम्भव प्रकृत करता हुआ बोला । सिद्धार्थकी चेष्टा पहले ही प्रकृत हो चुकी थी और अब उसका मुखमण्डल स्मित हास्यसे कमल-सा खिल उठा था । जब राजाकी दृष्टि उधर गई तब सिद्धार्थ बोला—“मैं प्रतिवादी हूँ, राजन् ।”

व्यवहार-पण्डित चकित हो सुनने लगे ।

देवदत्त बोला—“कुमारने मेरा शिकार ले लिया है, जो आजके मेरे कठिन श्रमका पुरस्कार था ।” उतरे धनुषका सिरा पीठके तरकशके तीरोके पंख छू रहा था ।

राजाने पूछा—“हस मारा किसने ?”

“मैंने ।” देवदत्तने सस्वर कहा ।

राजाकी दृष्टि सिद्धार्थपर पड़ते ही उत्तरमें कुमार तत्काल बोला—“महाशय, मारा कदाचित् देवदत्तने पर जिलाया हसको निश्चय मैंने ।”

गम्भीर स्थिर स्वरमें अनूठी शान्ति थी । भुजाएँ वक्षपर बँधी थीं, एक हाथमें पक्षी रह-रहकर फड़क उठता, मानो न्यायकी व्यवस्था सुन रहा हो । निःसन्देह उस व्यवस्थापर ही उसका जीवन निर्भर था ।

“पर शिकार तो मारनेवालेका होता है, सिद्धार्थ !” राजाने कहा ।

“सही व्याधका और मरा हुआ शिकार; यह जीवित है और जिलाया मैंने है,” सिद्धार्थ बोला ।

सुननेवाले निस्तब्ध थे, राजा तक ।

सिद्धार्थ फिर बोला—“यदि न्याय हो तो मुझे हंस दे देनेमें कोई

आपत्ति नहीं। पर आज इसका निर्णय हो जाय कि शिकार मारनेवालेका है या जिलानेवालेका।”

राजाने व्यवहार-पण्डितोकी ओर देखा। उनका कण्ठ न फूटा। सभी चकित थे, क्योंकि इस प्रश्नका उत्तर न था, न स्मृतियोंमें, न पर्वेनि-पुत्थकोंमें।

हंसके डैने पुलक उठे। उसका चंचु कुमारकी छातीमें गड़ गया और गहरा।

२

प्रासादमें विभूतियाँ भरी थीं। कमनीय कामिनियोंका अभाव न था, पार्थिव सुखके सभी साधन संगृहीत थे। केवल भोक्ता उदासीन था, तरुण भोक्ता कुमार सिद्धार्थ।

इन भोगोंमें उसकी अनुरक्ति न थी। वह सोचता—अनायास उमगते जीवनके बीच मृत्यु क्यों? इठलाते अल्हड़ यौवनके बाद धिनौनी जरा क्यों? अनन्त सम्पदाके बीच अभाव क्यों?

ऋषियोंसे, पण्डितोंसे, यतियोंसे उसने बार-बार पूछा। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ। उत्तरसे उसे सन्तोष न हुआ। मृत्यु, जरा, अभावका प्रश्न जहाँ-का-तहाँ रह गया। तब उसने स्वयं बोधिफल प्राप्त करनेका संकल्प किया। संकल्पका अर्थ था, गृह-त्याग। गृह-त्यागका अर्थ था उस रूप-राशि गोपा (यशोधरा) का त्याग, जिसका प्यार कण-कणमें बसा था, जिसका उल्लास मर्मको अन्तर्द्वारोंसे खींचता था।

पर आर्तोंकी पुकार कहीं अधिक करुण थी। संकल्प दृढ़तर होता गया। एक साँझ उत्तप्त मन दिशाओंका राही हो जानेके लिए व्याकुल हो उठा। तभी दासीने आकर पुत्र होनेका शुभ संवाद दिया। बधाई दी। तरुणके मुँहसे सहसा निकल पड़ा—“राहुल!” भाव था—‘विघ्न’, पुत्र-रूप विघ्न, जिसने उसके संकल्पको शिथिल कर दिया। दासीने समझा,

विताने पुत्रका नामकरण किया। उसने रनिवासमे कह सुनाया। नवजातका नाम पड़ा—राहुल।

प्रासादका सुहाग लौटा, कुमारकी सकल्प-रज्जु ढीली पड़ गई। गोपाकी एकाकी प्रणय-शक्तिको पुत्रके आकर्षणने दुगुना कर दिया। सिद्धार्थ सकल्प-विकल्पकी डोलीमे झूलने लगे। जगत्का पाप फला, पुण्य तिरो-हित हुआ।

एक दिन राग-तृष्णाका भार फिर हलका हुआ और धीरे-धीरे पहलेके प्रश्न फिर साकार हो उठे। एक रात देर तक नृत्यगान होता रहा। कुमारकी चेष्टा तरलसे अप्रयास कठोर बनी। विलासके जीवित उपकरण मद्य और मदक्के सेवनसे थककर सो चले। रातने करवट ली।

विकल मानव उठा। जन-हितकी साधना अविजित प्रेरणा बनी। सिद्धार्थ उठा। देहलीमे उसने पाँव रक्खे। गोपाका मृदुल मानस निद्राके वशीभूत था, पुण्यका अनुपम संचय शिशु-रूपमें माँके स्तनसे लगा था। अमर मानवने एक पग देहलीके बाहर रख शयनकक्षमें झाँका। मंदिर आकर्षण, स्निग्ध स्वच्छ स्मृतियाँ हजार-हजार सूतोंसे उसे अवरुद्ध करने लगीं। तोड़ दिये उसने सारे धागे।

कपिलवस्तु सोया पड़ा था। गौतम रातों-रात कोसलोंके राजमे जा पहुँचा। अभिजात वस्त्र उसने उतार डाले, रेशमी केश खड्गसे काट दिये। अश्वको रक्षकको सौप वह महापथका पथिक बना। अकेला, नवमयंक-सा क्षितिजपर उगा वह आकाशकी मूर्धाकी ओर चढ़ चला। यह उसका महाभिनिष्क्रमण था, महात्याग।

३

मगधराज बिम्बिसार अपने महलोंसे नित्य देखता। पीले चाँद-सा तेजस्वी तरुण प्रातः राजगृहके प्रासादोंके सामनेसे निकल जाता। तपकी विषण्ण चेष्टा उसके भालपूर जैसे तारुण्यका शृंगार बन गई थी। कापायकी

आभा उसके शरीरके दमकते हिरण्यरागको द्विगुणित कर देती । राजा उसे नित्य निहारता । पृच्छता, यह कौन है ? कैसे असाधारणको भी दुःख व्याप सकता है ? क्या ऐसी दिव्य ज्योतिको भी ज्ञान-लौकी आवश्यकता होगी ? क्या इस महाभागको भी किसी वस्तुकी न्यूनता खल सकती है ?

जब एक दिन उसका कुतूहल परिधि पार कर गया तब राजा बिम्बिसार प्रभात वेलामे तरुण परिव्राजककी राह रोक सामने जा खड़ा हुआ । परिव्राजक राह रुकी देख रुका । भूमिसे उठकर जब दृष्टि सामने पड़ी तब उसने मुकुटधारी मगधनरेशको अजलिबद्ध खड़े पाया ।

गम्भीर चेष्टा सरल हो गई, मुद्रा सहज । प्रसन्न स्निग्ध वाणीमें परिव्राजक बोला—“कल्याण हो राजकल्प गृहस्थ, शान्ति और पुण्यकं अविकल भागी बनो !”

“धन्य हुआ, महाभाग, आशीर्वचनसे । पर उत्कण्ठा बनी रही ।” राजा बोला । “क्या परिचय देकर कृतार्थ करेंगे ? मैं मगधराज बिम्बिसार हूँ ।”

“प्रसन्न हुआ, राजन् । पर बहते पवनका क्या परिचय ? प्रव्रजित यतीका क्या परिचय ?” शीतल वायुके स्पर्शसे चीवरका कोना हिला । शेष मुद्रा निर्वात ज्योतिकी थी । “पर यदि इस वेशके पूर्वका परिचय जानना चाहो तो सरल है—शाक्योंके प्रधान शुद्धोदनका तनय सिद्धार्थ गौतम, जो नाम गृहस्थके वेशके साथ ही कबका त्याग चुका हूँ ।”

“किस आशासे सुखी जीवन छोड़ा, यती ? क्यों शाक्योंका वह असह्य प्रताप तुम्हें अग्राह्य हुआ ? यह राह कठिन है, भन्ते, तुम्हारे अङ्गाङ्ग कोमल है, कमलसे । लौटो, लोकको लौटो । और यदि अंगीकार करो, पुत्र-कलत्रसे विकल मगध नरेशका यह राज्य लो, भोगो ।” राजाके तृप्त औदार्यके लिए कुछ भी अदेय न था ।

“अनुगृहीत हुआ । पर नहीं, विमलकीर्ति गृहस्थ, नहीं चाहिए यह अनुपम दान । यदि भूमिका विस्तार लुभा सकता तो शाक्योंकी भू-सम्पदा कुछ कम विस्तृत न थी । फिर शुद्धोदनका ब्रातसल्य-राज उससे कहीं

द्विशद था, और यशोधराका स्वप्न देश तो उससे भी कहीं विपुल । नहीं, राजन्, दुःखका घनीभूत वह पुज नहीं चाहिए, मुझे चाहिए जनहिताय वह सम्यक् सम्बोधि ।”

राजाने राह छोड़ दी ।

बोला—“सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करो, यती, शान्तिकी विमल ज्योति वसुधामे बिखेरो । पर देखो, जब वह प्राप्त हो जाय तब मुझे उसके प्रकाशसे वचित न करना । उसकी एक किरण मुझ अकिंचनको भी देना ।”

परिव्राजक चलता-चलता मुसकराता हुआ बोला—“तुम्हारे पुण्यसे ही, राजन्, सम्यक् सम्बोधिकी उपलब्धि हो, निर्वाणके दर्शन हों । निश्चय प्रकाश पाते ही तुम्हें भेटूँगा ।”

परिव्राजक चला गया । बिम्बिसार देर तक खड़ा दूर पहाड़ियोंमें लुप्त होते उस दीर्घकाय भिक्षुको देखता रहा । भिक्षु फिर न लौटा । सम्यक् सम्बोधिकी ज्योति लिये जब वह लौटा तब बिम्बिसार धरापर न था ।

४

बुद्ध कपिलवस्तु आये, पिताके शासनमे । पर संघको निमन्त्रण न मिला । बुद्ध भिक्षापात्र लिये उस महानगरकी सड़कोंपर निकल पड़े । नर-नारी दर्शनको टूटे ।

शुद्धोदन भी दौड़े, देखा, संतुष्ट हुए । पर एकाएक दुःखी हो उठे । बुद्धसे पूछा—“यह क्या ? यह कैसा अनाचार, सिद्धार्थ ? पिता तुम्हारा शाक्योका प्रधान है, उसीके नगरमें भला यह भिक्षाटन ?”

विश्वका जनक हँसा, बोला—“राजन्, तुम राजाओंकी परंपरामे जन्मे हो, मैं भिक्षुओं, भिखमर्गोंकी परम्परामें । मेरे भिक्षाटनसे तुम्हें ग्लानि क्यों ?”

राजा स्तब्ध रह गया । तथागत अपनी राह चले गये । राजा शट यशोधराके निकट जाकर बोला—“शुभे, तेरा पति सम्यक् सम्बोधि प्राप्तकर लौटा है, बुद्ध होकर । राजमार्गपर है, दर्शनका लाभ क्यों नहीं करती ?”

“क्या जानूँ संबोधि, आर्य, क्या जानूँ बुद्धत्व ? मेरे तो आर्यपुत्र, सिद्धार्थ । देहलीके बाहर नहीं जानेकी । नाथ आयेंगे ।” वर्षोंकी प्रतीक्षाने सतीको शक्ति दी थी, विश्वाससे न हिली । देहलीपर जा पहुँची ।

बुद्ध आये । पर भिक्षुके वेशमें, काषाय पहने, भिक्षा-पात्र लिये । यशोधरा खड़ी थी, राहुलको साथ लिये । तथागतकी दृष्टि पत्नीपर पड़ी, फिर तनयपर । न वह उसकी पत्नी थी, न वह उसका तनय था । यशोधराका हृदय उल्लसित हो गया था । जब उसने पतिको अपरिचितकी भाँति अपनेको देखते पाया, तब उसका दिल बैठ गया । तथागतने अप्रयास भिक्षा-पात्र उसके सामने बढ़ा दिया ।

यशोधराको काठ मार गया । क्षणभर वह स्तम्भित खड़ी रही । एकाएक एक विचित्र स्फूर्ति उसकी नस-नसमें लगी । क्षणभर उसने बुद्धको देखा । बुद्धकी चेष्टामें तनिक भी अंतर न पड़ा । पीछे आनंद और सारिपुत्र खड़े थे । बुद्ध जान-बूझकर उन्हें साथ ले आये थे । जबानवाले जबान चलाते ही हैं और जबान सँदा मुनासिब ही नहीं चलती । शिष्योंके नेत्र भर आये थे, पर पत्नी शान्त थी ।

यशोधरा बोली—“वर्षों बाद आये हो और वह भी भिक्षा-पात्र साथमे लेकर ! स्वागत तुम्हारा ! आशाएँ और थी, पर यदि भीख ही देनी पड़ी तो अपना अमूल्य रत्न दूँगी, एकमात्र सहारा, मेरे एकाकीपनका मात्र पूरक, तुम्हारा प्रतिनिधि ।”

उसने राहुलको उठाकर तथागतके बड़े हाथोंमे दे दिया । तथागतने चुपचाप राहुलको ले लिया । फिर अद्भुत रोष नारीपर छा गया । मातृ-सुलभ गाम्भीर्यके साथ, पत्नी-सुलभ गर्वसे, यशोधरा बेटेसे बोली—“बेटा, पितासे अपनी दाय माँग !”

तथागतकी शान्त-गंभीर ध्वनि तत्काल उत्तरमे सुन पड़ी—“आनंद, राहुलको प्रव्रज्या दो !”



बुद्धका दाँत

कोहेनूरकी कहानी सबको मालूम है पर कम लोग जानते हैं कि लंका-वाला बुद्धका दाँत भी उसी प्रकार अनेक लोमहर्षक परिस्थितियोंसे होकर गुजरा है। दो-सवा दो हजार सालों तक भगवान् बुद्धकी दाहिनी दाढ़ निरन्तर हाथों हाथ, स्थान-स्थान घूमती रही है। किस प्रकार वह उत्तर प्रदेशकी कसिया (कुसीनारा, कुशीनगर, पहले जिला गोरखपुर, अब जिला देवरिया) से लंकाके काण्डी नगरके दन्त-मन्दिरमें पहुँचा, यह बड़ी दिलचस्प कहानी है।

लकाकी राजधानी कोलम्बोसे कोई ७५ मीलपर समुद्रतलसे प्रायः सोलह सौ फुटकी ऊँचाईपर पहाड़ी उपत्यकामें काण्डीका अभिराम नगर बसा है। प्रकृतिने उसे अपने हरे अंचलसे अनेकधा लपेट दिया है। रबड़के वृक्षोंकी हरी परम्परा, नारियल और सुपारीके तालवत् छरहरे पेड़ोंकी झुरमुटोंकी छायामें 'बोगम्बर' झीलकी फैली हुई निर्मल काया है जिसके उत्तर और पश्चिमके तटोंपर प्राचीन श्रीखण्ड और आजका काण्डी नगर बसा है। सदा वहाँ वसन्त छाया रहता है, शीतल अभिराम वसन्त, जहाँ कभी ग्रीष्म तप नहीं पाता, जहाँ पावसमें सैकड़ों-सैकड़ों मनोरम जल-प्रपात सहसा उसके पहाड़ोंसे फूट पड़ते हैं।

वहीं, उसी काण्डी नगरमें उसी झीलके तीर, बुद्धका जगत्प्रसिद्ध दन्त-मन्दिर खड़ा है जहाँ सदियों-सहस्राब्दियों घूमकर अन्तमें तथागतके उस दाँतने अपना अन्तिम निवास पाया। इस मन्दिरपर, मन्दिरके इस दन्त-धातुपर, बौद्धोंकी बड़ी अडिग आस्था है। सभी देशोंके भिक्षु उसके दर्शनोके लिए निरन्तर आते रहते हैं।

मन्दिर दोतला है। प्रधान द्वार पश्चिमकी ओर है। द्वारके भीतर द्वार, चन्द्रशिला और सभामण्डपके पीछे मन्दिरका प्रधान भाग है जहाँ बुद्धका वह दाँत स्थापित है। द्वारपर दो जोड़े हाथीदाँत और गज-सिंह है। भीतर एक तंग जीना है जिससे 'उडमाले' या ऊपरके तलको रास्ता गया है। वहीं गर्भ-गृह है जिसके द्वारपर नौ हाथीदाँत हैं, चाँदीके पत्र जड़े हुए हैं। सामने भीतर लोहेकी सलाखें हैं जिनके पीछे चाँदीकी बड़ी स्तूपकाकार पिटारी है जिसे वहाँ वाले 'करण्डुवा' कहते हैं। बस उसीमें एकके भीतर एक, सात सोनेकी पिटारियाँ हैं, रत्न-मोती-जड़ी। इन सबसे भीतर वाली पिटारीमें रत्नोंकी छायासे ढकी स्वर्णकायामे दन्त-धातु सुरक्षित है, पवित्र और दर्शनीय।

ईसासे ४८३ साल पहले कसियामें भगवान्की मृत्यु हुई। देशके रजवाड़े और राष्ट्र भगवान्की हड्डियोंके लिए जूझ मरनेको उद्यत हुए। ब्राह्मणने उनके नौ हिस्से करके सबको बाँट दिया। यह दाँत किसके हाथ लगा, कोई नहीं जानता पर जिसके पारसको छूकर बुद्धकी जिह्वा पैतीस वर्षों तक उपदेश करती रही थी वह क्यों कर चुप बैठ सकता था? चला वह पूर्वकी ओर।

पूर्वमें कलिङ्गका राष्ट्र था, पूर्वी समुद्रसे लगा। सागरतीरपर उसकी राजधानी नारिकेलोंकी स्निग्ध छायामें सदा जागती थी। भारतके किसी नगरमे तब इतनी हलचल न थी जितनी कलिङ्गके इस विशाल पत्तनमें। सोदोम, तीर और बावेरुके वणिक् अपना क्रीमती माल लिये आते और अपनी पिटारियाँ खालीकर उन्हें सोनेसे भर लेते। मिस्र और अरबसे, चीन और कोरियासे अपने जहाजोंके तल भरे सौदागर आते और इस नगरकी मण्डियाँ भर देते। ग्रीस और रोमकी ओरसे आई यवनियाँ पत्तनके रसिक नागरिकोंके विलासका साधन बनती।

असुर देशकी नर्तकियाँ जब अपने विशाल नयनोंकी लम्बी अलसायी पलकोंकी श्यामल छायामें पत्तनके नागरोंके चषक भरतीं तब नागर अपना

चिरसंचित धन उन्हें सौप देते। इन सरल-साध्य नारियोंके प्रकोष्ठ देश-देशके पोतस्वामियोंसे कहीं ऋद्ध थे, उनकी पेटिकाओंमें महान् वणिकोंके रत्नोंसे कहीं अधिक प्रभा बन्द थी। राजधानीके सागरतटपर, उसके वन-प्रान्तरोंमें, नारिकेल-कुंजोंमें बहिरूपवनोंमें, अट्टोंमें विलास पलता था, नग्न विलास, जिसके सम्मोहनकी कोई दवा न थी।

कलिङ्गका साधु राजा अपनी नगरीके इस निरकुश विलाससे दुःखी था। नगरके कभीके असंख्य श्रमण उसके विहारोंकी परम्परासे दृढ गृहस्थोंकी अटारियोंमें चले आये थे, स्वयं गृहस्थ हो गये थे, नर्तकियों-यवनियोंकी कमनीय कायाके अकिंचन दास बन गये थे। एकमात्र विहारमें नगर और जनपदके भिक्षु अपनी हास्यास्पद नित्य ह्लास होती संख्यापर आँसू डालते और तथागतके उपदेशोंमें रति करते।

महास्थविरने राजासे कहा—“राजन्, सद्धर्म अब, लगता है, धरापर टिकनेका नहीं, मारको सेना बलवती हो चुकी है। कुछ प्रयत्न करें, नहीं तो बची प्रेरणा भी लुप्त हो जायेगी।”

चिन्तित राजाने और भी द्रवित हो पूछा—“सोचा है, भन्ते? सद्धर्मकी रक्षाका कुछ उपाय सोचा है?”

“सोचा है, राजन्”, महास्थविरने कहा, “कुसीनारामे भगवान् तथागतकी अस्थियाँ सुरक्षित हैं, उन्हींमें वह दाहिनी दाढ़ भी है जिसके दर्शनसे सम्भवतः हमारी इस पापविगलित नगरीका पाप नसे। स्वप्न देखा है, राजन्, भेजे दूत कसियाको, मँगायें मल्लोंसे वह अनमोल पुण्य रत्न।”

और राजाने कसिया दूत भेजकर मल्लोंसे वह दाँत माँग लिया। कलिङ्गके जंगलोंसे नये पकड़े विशाल गजोंके जुलूस द्वारा उस दाँतकी पूजा हुई। नये मन्दिरके गर्भगृहमें उस असाधारण अस्थिरत्नकी प्रतिष्ठा हुई। यह तो पता नहीं कि सद्धर्मके उखड़े पैर पत्तनकी उस धरामें फिर जमे या नहीं, कि वहाँके विलासियों-विलासिनियोंका रस-मान उससे छीजा या

नहीं, कि मारकी सेनाके उपद्रव कहाँ तक शान्त हुए, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आठ सौ साल तक कलिंगकी इस राजधानीमें तथागतका वह दाँत बना रहा और अशोकके आक्रमणके समय उस नगरने अपना वह अनमोल रत्न बचा लिया ।

ईसाकी चौथी सदीमें कलिङ्गकी स्थिति बिगड़ी । सारा देश, सागरसे सागर तक, उपद्रवोंसे विकल हो उठा था । तथागतके दाँतके भी लाले पड़ गये और कलिङ्गमें उसकी रक्षा कठिन हो गई । राजाने विहारके महा-स्थविरसे परामर्श किया और ठहरा कि उस दाँतकी रक्षा देशमें न हो सकेगी, उसे विदेश भेजना ही उचित होगा ।

लंकाका आकर्षण बड़ा था । सदियों पहले अशोकके बेटे-बेटी महेन्द्र और सघमित्राने वहाँ सद्धर्मका विस्तार किया था, गयाके बोधिवृक्षकी एक टहनी लगाई थी जो अब विशाल अश्वत्थ हो गया था । राजा और महा-स्थविरने निश्चय किया कि दाँत लंका भेज दिया जाय । पर दाँत लंका भेजना कुछ आसान न था । कौन ले जाय दाँत लंका ? कैसे जाय वह वहाँ ?

राजाकी कन्याको सघमित्राकी याद आई । उसकी काया सद्धर्मके इस रत्नकी रक्षाके लिए तत्पर हुई । वणिकोंसे भरे लंकागामी पोतके एक तलेमें राजकन्या अपने केशोंमें वह महाधन छिपाये पैठी और एक दिन जब लंकाकी राजधानीके नर-नारी सो रहे थे, कलिङ्गकी उस राजकन्याने भगवान्‌के उस दाँतको सागर पार लंकाकी भूमिपर उतार दिया । वह साल ३०५ ईसवीका था, उस दाँतके, लंकाके, बौद्ध धर्मके इतिहासमें अनोखा ।

पर दाँतका संक्रमण अभी पूरा न हुआ था । उसके पाँच लंकासे फिर उठे, हजार वर्ष बाद । १३०० ईसवीमें तामिलोंने लंकापर आक्रमण किया और तामिल राजा द्वारा तथागतका वह दाँत फिर भारत आया । पर दाँत वह भारतमें रह न सका । दक्षिण भारत और लंकामे शक्ति और विजयके लिए तब कश्मकश हो रही थी और बार-बार वह दाँत दोनों देशोंकी सन्धियोंकी शर्त बना ।

लंकामें चौदहवीं सदीके आरम्भमें पराक्रमबाहुका प्रताप चमका और द्रविड़राजसे उसने तथागतका वह दाँत छीन लिया। अब वह फिर लंका पहुँचा, समुन्दर पार, पुलस्त्यपुर। जिस मन्दिरमें वह दाँत तब पधराया गया वह आज भी पोलन्नासव नगरके एक भागमें भग्नावस्थामें खड़ा है।

पर उस नगरके उस जीर्ण मन्दिरमें वह दाँत अब नहीं है। दो सौ वर्ष बाद वह दाँत पुर्तगालियोंके हाथ लग गया।

पुर्तगाली पादड़ी तब आजकेसे अकिंचन न थे, अपनी सेनाकी वे हरावल थे। स्पेनमें 'इन्क्विजिशन' नामक जिस भयानक धर्म संस्थाने कभी भोषण नरयज्ञ किये थे उसके उत्तराधिकारी यही पुर्तगाली पादड़ी थे। तलवार और आग इनके सहायक थे, यन्त्रणा और पाश इनके धर्म-प्रतीक ! पूर्वी देशोंके सारे तटोकी भूमि इन्होंने रक्तसे लाल कर दी; भस्मसे काली। इनके अत्याचारसे सागरतटीय जनता सर्वत्र त्राहि ! त्राहि ! करने लगी थी। लकाके नर-नारी भी इनके जुलमसे तबाह हो उठे।

इन्हीं पुर्तगालियोंके हाथ एक दिन तथागतका वह दाँत लग गया। पुलस्त्यपुरकी वह स्वर्ण-पिटारी फिर उसकी रक्षा नहीं कर सकी। लकासे तब वह दाँत फिर गोआ आया, जो तबसे आजतक पुर्तगाली सरकारका प्रधान केन्द्र रहा है।

ब्रह्मामें पेंगूके राजाको उस दाँतकी ललक लगी और उसने पुर्तगालियोंके लिए अपना चिरकालसे संचित धन-भण्डार खोल दिया। पर पुर्तगाली पादड़ी उस धनपर न रीझे। किसी मूल्यपर वे दाँत बेचनेको राजी न हुए। संसारके भिक्षु तड़प उठे। लका, भारत, बर्मा, स्याम तत्पर हो पुर्तगालियोंसे दाँत छीन लेनेके उपाय सोचने लगे। दाँतको हस्तगत करनेके लिए षड्यन्त्रोंकी धूम मच गयी।

अब जब पुर्तगालियोंने देखा कि यद्यपि समुद्रकी लड़ाईमें उन्हें जीत सकना शत्रुओंके लिए सम्भव नहीं है, कुछ अजब नहीं जो उनका षड्यन्त्र

फल जाय और इसलिए उन्होने दाँतको नष्ट कर देनेका निश्चय किया ।
बौद्ध संसारमे हाहाकार मच गया ।

और एक दिन गोआके पादडियोंने पुर्तगाली सरकारकी छायामे उस दाँतको जला डाला । उसका भस्म स्वयं पुर्तगाली गवर्नरने गोआके समुद्रमे अपनी आँखोके सामने डलवा दिया । भस्म सागरकी लहरोंमे लुप्त हो गया । तथागतके उस दाँतकी इहलीला भी दो हजार साल बाद समाप्त हो गई !

पर नहीं, षड्यन्त्र फल गये । लंकाके भिक्षु सफल हुए । गोआके सरकारी खजानेसे, पुर्तगाली गारदकी रक्षासे, उसकी तोपोंके पीछेमे, पादडियोंकी सतत जागरूक आँखोंके नीचेसे एक दिन वह दाँत गायब हो गया । पुर्तगाल सरकारने, उसके सैनिकों-तोपचियोंने, पादडियोंने न जाना कि वह दाँत उसके हाथसे निकल गया, कि जो बचा है वह असली नहीं नकली है ।

और एक दिन वह दाँत चुपचाप लंकाके राजा विक्रमबाहु चतुर्थके दरबारमे जा पहुँचा । वह १५६६ का साल था । राजाने सिर-आँखोंपर उसे लिया । काण्डीमें उसके लिए उसने मन्दिर बनवाया जिसके कंगूरे पर्वतकी चोटीपर काण्डी नगरमे बोलाम्बर झीलके जलमे झिलमिलाने लगे । उसी मन्दिरमें तथागतका वह दाँत अन्तमे सुरक्षित हुआ जिसने अपने अबतकके इस ढाई हजार सालके जीवनमें भारत और लंकाके बीच अनेक यात्राएँ कीं, अनेक उलट-फेर देखे, युद्ध देखे ।

वैशालीकी गणिका

उत्तर बिहारके जिला मुजफ्फरपुरमे, जहाँ आज बसाढ़ गाँव है, वहीं कभी सम्राट् अजातशत्रुसे टक्कर लेने वाले वज्जियोंके प्रबल संघकी राजधानी वैशाली थी। वैशालीका वैभव मिथिला और पावासे, कुसीनारा और कपिलवस्तुसे कहीं बड़ा था। उसके मानधनी, रूपधनी, जनधनी नागरिकोंके ऐश्वर्य और विलासकी कहानी जनपदोंमे कही जाती थी, गाई जाती थी।

उसी वैशालीके लिच्छवि-कुमार जब अपने अभिराम दुकूलोंमें सजे आभरणोंसे दमकते रथोंपर चढ़े भगवान् बुद्धके दर्शनोंको चले, तब भगवान्ने अपने भिक्षुओंको पुकारकर कहा था—“देखो भिक्षुओ, देखो—स्वर्गके तैंतीस देवताओंको जो तुमने अपनी अन्तर्दृष्टिसे अब तक न देखा हो तो, भिक्षुओ, उन्हें अब देखो। इन लिच्छवियोंको देखकर उन्हें जानो, साक्षात् देखो उन्हें, सशरीर देखो।”

उसी वैशालीकी, उसके विलास बोझिल सौरभकी, उसके राग-मदिर लिच्छवियोंकी, उसकी भुवन-मोहिनी गणिका आम्रपालीकी कथा है यह, इतिहासमें अनुपम, जीवनमें अभिराम, विरागमे अभिनव।

तब वैशाली केवल लिच्छवियोंकी थी, मात्र उनकी। उन्हीं लिच्छवियोंमें लक्ष्मीका लाड़ला वह महानाम था जिसके धनकी कथाएँ गंगा, सदानीरा और बागमतीकी धाराएँ कहतीं, जिसके विलासके काननमें मदनके पाँचों बाण शिथिल हो गये। उसी महानामकी एक कन्या थी, आम्रपाली।

आम्रपाली बढ़ चली, शैशवसे कैशोरकी ओर, और कैशोरसे यौवनकी ओर, पोरपर पोर खोलती। और तब मनस्विनी रति वैशालीके प्रमद-

वनोसे विरक्त हो गई जब उसने उनके पारिजातोपर, बकुल और मन्दारों-पर, आमोंपर उस नवयौवनकी मंदिर छाया डोलती देखी ।

आम्रपालीकी लोनी कायामें छवि छलकी तब मानवकी गति बन गई । नागरिकाओंकी अलकोके फूल मुरझा गये, उनके स्निग्ध कुन्तल रूखे हो गये, कजरारे उपान्त सूने । उनके सजन खो गये, रनिवासोंकी रागिनियाँ मूक हो गई ।

वैशालीका राग अब प्रमदवनोसे, रनिवासोसे महानामके महलोंकी आंर बह चला, जहाँ आम्रपालीकी धनी भौहोंकी छायामें थके मन्मथके धनुषने अवकाश लिया था, जहाँ उसके अलसाये नयनोंमें ममताके डोरे बिछे थे । वहीं वैशालीके तरुण मँडराने लगे, वहीं उनके गुरुजन अपने मोहपर आचारका आवरण डाले ललचाये डोलने लगे ।

उस अपनी अलबेली कन्याके लिए महानामने दूर देशोंमें ब्राह्मण भेजे, कुशल चर, चतुर चेरियाँ भेजी कि आम्रपालीके अनुकूल वर मिले, कि उसकी मजरीसे कोई सुभाग अपनी अंजली, अपनी नासा भर ले ।

पर जब बौराये आमोकी मजरी अपना कोष खोल देती है तब क्या अपनी ही रजको वह अपनी सुरभिकी गाँठोंमें बाँध पाती है ? तब क्या उसकी झरती पराग अंजलीमें बँध पाती है ? एकाकी नासाकी परिधिमें घिर पाती है ? न घिर पाई वह सुरभि नासापुटोंमें, अजलीमें वह न बँध पाई । मंजरीके कषायरससे बौराये कोकिल कूक उठे, भौरोंकी गूँज गहरा उठी ।

देश-विदेशके विलासी भाव-रागके धनी, मतिमान, गायक, कवि, प्रताप और ऐश्वर्यके दर्पसे झूमते राजा, धनसे विख्यात दानके जसी सेठ आये, उन्होंने महानामकी अनुनय की, आम्रपालीका प्रसाद माँगा, पर न तो महानाम पसीजा न आम्रपाली रीझी । वैशाली हँसती रही बाहरसे आये उन चँवरोंपर, धवल छत्रोंपर, रथों-पालकियोंपर ।

क्या करे महानाम अब जब कन्याका यौवन सर्प-सा छत्र उठाये विष-

जिह्वा लपलपाता उसे डेंसने लगा था। जा पहुँचा वह लिच्छवि-गणके सथागारमें। सात हजार सात सौ सात लिच्छवि कुलोंका, कुलागत राजाओं-का गण था वह। महानामने कन्याको गणके सम्मुख ला खड़ा किया, बोला—महानामकी कन्या है यह आम्नपाली। गण इसका भावी सोचे, इसका भविष्य विचारे। गण किनारोंकी मर्यादासे उचकती नदीकी भाँति इस कन्याका विधान करे, इसके लिए योग्य वर दे। आतुर याचकोंसे वैशाली भरी है, गण विचार करे, गण विधान करे, गण कन्याका मगल करे !

और कन्या सथागारके भद्रासनपर कटिपर दोनों कर टेके खड़ी थी, छबिकी लौ-सी कनक रुचिर वह काम-काया। वातायनोंसे छनकर आती बयार उसके कुन्तलोको, केशपट्टसे बँधे होनेपर भी, छेड़-छेड़ उड़ा रही थी। पलकोकी कजरारी विपुल छायामें कानोंतक फैले उपान्तोंकी कोरें बाल-सी महीन हो गई थी। कलाइयोंपर वलय कसे थे, भुजाओंपर भुज-बन्द; कानोमें बालियाँ डोल रही थीं, अंशुकसे आवद्ध कुच उचक रहे थे, जैसे खिझे कपोतपर मारकर उड़ जायेंगे। और उनपर पड़ी एकावलीका निचला सिरा क्षीण कटिके नीचे लहराती त्रिबलीको छूती थी। और नीचे पीन-जघनोसे सटी धोतीकी छोरें पैरोंके बीच त्रिकोणाकार हो भद्रासनको चूम रही थीं। आम्नपालीका कोनिल तीखा चिबुक मस्तककी मुद्रासे तनिक आगे ऊँचा उठ आया था, भरे रक्तितम अधरोंपर स्मित हासकी रेखा खेल रही थी। महानामकी आँखें मस्तकके साथ झुक गई थीं, दण्डधरोंके पसीने छूट रहे थे, गणराजाओंके मर्मको नाग डेंस रहा था।

गणकी गुप्त मन्त्रणा शुरू हुई। गणने विधान किया—आम्नपाली 'स्त्रीरत्न' है, गणकी ! एकजाई सम्पत्ति, एकाकी प्रभुत्वसे ऊपर ! परम्परा-के अनुसार महानाम उसे गणको सौप दें !

परम्पराके अनुसार महानामने आम्नपालीको गणको सौप दिया। वैशालीकी वह सबसे आकर्षक लावण्यवती सुन्दरी थी। परम्पराके अनुसार

वह गणिका बनी, गणकी भोग्या, जिसपर गणके सभी जनोंका समवेत अधिकार हुआ। पतिके एकजनीन अधिकारसे वह वंचित रही। हालांकि खिले कुसुमकी भाँति उसपर तितलियाँ मँडराने लगीं, भ्रमर गुजारने लगे, निर्बन्ध, यथेच्छ, क्रूर।

एकान्त अमराइयोंकी सीमापर आम्रपालीका गणिका-प्रासाद बनने लगा। प्रकोष्ठपर प्रकोष्ठ चढ़े, अलिन्दपर अलिन्द लटके, शिखर बादलोंमें खो गया। तब चितेरे तूलिका और लम्बकुर्च लिये भवनकी भित्तियोंपर भाव-चित्र लिखने चले। गणिकाने उनसे कहा, देखो, तुम देश-देशसे आये हो, देश-देशमें तुमने चित्र लिखे हैं, देश-देशमें राजा, सेठ और श्रोमान् देखे हैं, उन सबकी आकृतियाँ लिखो, आकार चेष्टाएँ लिखो !

चितेरोनें चित्र लिख दिये, अभिराम मर्महर चित्र, सजीव और कोमल, रुचिर और प्रणय-निष्ठुर ! रमणागारकी दीवारें बोलती, झिझकती, रागाकुल आकृतियोंसे उमंग उठीं। भारी पर्यककी दीवारोंसे काम-विकल अलसाई चेष्टाएँ उचकने लगीं। सरोवरोंके बीच कमलवनको रौंदता मदान्ध गजराज हथिनियोंके साथ गुंजलक भरती सूँड़से, पार्श्वसे, पैरोंसे परसने लगा। हथिनियाँ पद्मसुरभिसे बसे जलको सूँड़में ले, क्षणभर उससे अपना अन्तर भर मर्मस्थ बना गजराजपर उसका फन्वारा छोड़-छोड़ उसे नहलाने लगीं। भौंरा समान कुसुम-चषकसे पुष्प-मदिरा प्रिया भौंरीको पिला स्वयं जूठी पीने लगा। चकवा कमलका कोमल बिस पहले स्वयं चख-चख चकवीको चखाने लगा। कामवाहन तोते नीवि-बन्धपर निर्मम चंचु-प्रहार करने लगे। विलगता मृग दूरसे लौट-लौट विरहिणी प्रियाको देखने लगा, प्रिया अधकुचला दर्भ मुँहसे गिराती कर्णायत पलकोंको उठाये चितचोर प्रियको देखती रही, देखती रही। कामुक कपोत गुटर-गूँ करते कपोतियोंको छेड़ते, उनका पीछा करते और रोम-रोम काँपती कपोतियाँ उन्हींसे भाग फिर उन्हींके पखोके नीचे आश्रय लेतीं। प्रणयी संकेतस्थानकी कुसुमशय्याओं-पर अभिसारिकाओंके नीवि-बन्ध आतुर करोसे खोलने लगे।

गणिकाका काम-भवन फैली शाद्वल भूमिमे दीर्घिकाओंकी परिखासे खिले पद्म-सा लगता । प्रमदवनकी झुरमुटोंसे केकी फटी वाणीसे प्रियाओंको पुकारने लगे, पंजरस्थ शुक-सारिकाएँ निकुंजोंमें रमते मानव जोड़ोकी केलिसे चुराये वाक्योंको दुहरा-दुहरा सुनने वालोंके मर्म बेधने लगीं । मूक चित्रोंकी भाव-सम्पदा देखने वालोंको बरबस राग बन्धकी ओर खींचने लगीं । आम्र-पालीका संस्कृत उदार मन वैशालीके उस कामभवनमे देश-विदेशसे पधारे ग्राहकोंको अपने राग-कोषके द्वार खोल निहाल कर देता और गणिका उनसे पाई स्वर्णराशि दासियोंकी ओर सरका देती । अपने आचार्योंकी आशाएँ उसने पूरी कर दीं । उसका मायावी तन कृत्रिम औदार्यसे, प्रसन्न चेष्टासे, प्रणयियोंके सामने पर्यंकपर लेट जाता, पर उसका मानस रमणागारसे परे सरक जाता, उसका मन उसकी कायाकी परिधिमें न बँध पाया ।

पर एक दिन वही मन मूक चित्रके मोहसे बँध गया । पर्यंकके पाय-तानेकी दीवारपर एक उन्मुख मस्तक चिता था । आम्रपालीने उसे युग भर निहारा था । पहले उसने उसकी ओर विशेष ध्यान न दिया था, उसे भी उसने चित्रधारामे प्रवहमान एक साधारण उद्दीपन माना था, पर बार-बार जब वही मस्तक अपनी कोमल भाव-साधनासे उसे निहारने लगा तब गणिकाने उसे विशेष कौतुकसे देखा ।

पर कौतुक मात्र कौतुक न रह सका । शीघ्र वह कुतूहलमें बदल गया और गणिकाका निर्बन्ध मन पहली बार मोहके जालमें जा बँधा । रहस्य जानना चाहा उसने उस भुवनमोहन मस्तकका, उसके कोमल मूक मनका भेद ! वह उसे विरामके क्षणोंमें हेरती, पाकर निहारने लगती । थकी काया जैसे उसके स्निग्ध अवलोकनसे सद्यःस्नानकी ताजगी पाती, अभितृप्त हो जाती ।

पर उस मस्तकको केवल निहारकर ही कुतूहलकी प्यास अब न मिटती । जिसे जागृतिके दर्शनमे, सुषुप्तिके स्वप्नमे, मनके सनेमें अविराम देखा था उसका जादू, धीरे-धीरे आम्रपालीके अन्तरपर क्राबू कर चला ।

धीरे ही धीरे उसने जाना वह मस्तक न केवल उसके व्यवसायका मात्र मूर्क साक्षी है वरन् स्वयं उसके एकाकी मनका सहचर है, सदाका परिचित आत्मीय है, और उसका साधुमन उसी कमनीय मस्तकके परसनेको ललक उठा ।

पर मस्तक वह मात्र राग और रेखाओंका था, यद्यपि आम्रपालिकाको लगा कि ऐसा मस्तक निश्चय मात्र राग और रेखाओंका नहीं होता, निःसन्देह चित्तेरेने अनुकार्यकी नकल की है । और उसने अपने भित्तिचित्रोंके चित्तेरोंको बुला भेजा । चित्तेरे आये पर वह न आया जिसने वह मस्तक लिखा था । वायुकी तरह निर्द्वन्द्व गतिमान चित्तेरा कामकी खोजमें देशान्तर चला गया था ।

गणिकाके चरोने एक दिन उसका पता पा लिया, एक दिन वे उसे गणिकाके पास बुला लाये । गणिकाने जाना कि मस्तक वह मगधराज बिम्बिसारका है । उसने और भी जाना कि नवनिर्मित राजगृहके शयनागारमें सामनेकी दीवारपर उसी चित्रकारने एक नारी मस्तक उसी चेष्टामें लिखा है और उसे भी बिम्बिसार उसी मोहसे निहारा करता है जिस मोहसे आम्रपाली उसके मस्तकको अपने रमणागारमें निहारती है ।

दोनोंने दोनोंको जाना । शत्रु लिच्छवियोंकी राजधानीमें आम्रपालीके भवनमें बिम्बिसार एक दिन वेष बदलकर जा पहुँचा और आम्रपालीने उसे अपने तनको मनकी परिधिसे बाँधकर सौप दिया । नौ महीने बाद अभयकुमारकी शिशुवाणी आम्रपालीके काम-भवनकी शुक-सारिकाओंने दोहराई, गणिकाका व्यवसाय विरमा ।

आम्रपालीने वेलुवनमें सौम्य तथागतके शान्त वचन सुने । उसके भीतरका कोलाहल थम गया । सुगतकी वह उपासिका बनी । उसने सुगतको अपने भवनमें भिक्षा ग्रहणके लिए सस्र आमन्त्रित किया । सुगतने मौनद्वारा उसका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया । लिच्छविकुमारोंने आम्रपालीका आमन्त्रण विफल करनेकी हजार चेष्टा की पर उनकी अनुनय

सुगतने न सुनी और आम्रपालीने लिच्छविकुमारोंके रथोंके बराबर विजयसे पुलकित हो अपना रथ हाँका ।

और उसके आम्रकाननमे पंचशीलके नियम व्यापक हुए । अबतक आम्रपाली गणकी थी अब उसने अपने मनको कंगलोंकी सेवामे लगाया । एक सार्वजनिक अनुष्ठानसे दूसरे सार्वजनिक अनुष्ठानकी ओर उसकी प्रगति हुई । विलासने अवकाश लिया, लोक-क्षेम उसकी साँसोंमें बसा । लिच्छविकुमार पहले उसके रूपके मारे ही थे अब वे उसके घमग्रिहकी ईर्ष्यामें भी जल मरे ।

जो भुका नहीं

मोरचा झेलमके तटपर था, हिन्दुस्तान और मकदूनियाका पहला मोरचा। गागामेलाके मैदानमें जो ईरानी साम्राज्यके टखने टूटे तो मकदूनियाके मन्सूबोंकी कोई हद न रही। सिकन्दर और उसके सरदारोंने दाराके खानदानको खत्म कर डाला। दाराके शहजादोंने वास्त्रीमें शरण ली थी, हिन्दूकुशकी तराइयोंसे निकलकर सिकन्दरने आमू लाघ उन्हें बरबाद कर दिया।

फिर जो वह लौटा और हिन्दुस्तानको उसने हिन्दूकुशकी ऊँचाइयोंसे देखा, तो उसके मुँहमें पानी भर आया। पर कन्धारियोंने जो उससे लोहा लिया था उससे जाहिर भी हो गया था कि आगेका मैदान गागामेलाका नहीं है। आगे बढ़ते ही उन अश्वकों (अफ़गानों) ने उसकी राह रोकी जिन्हें आजतक कोई गुलाम नहीं बना सका।

मस्सगका दुर्ग अगला मोर्चा बना। जमकर जग हुआ। जुझाऊ लड़ाईमें राजाको तीर लगा और सिकन्दरके पव बारह हुए। दुर्गमें सात हजार हिन्दुस्तानी सिपाही थे जो अफ़गानियोंकी मददको आये थे। सिकन्दरने उन्हें वचन दिया—‘निकल जाओ, तुम्हें कोई नहीं छुयेगा।’ युद्धजीवी निकले, अपनी सीमाकी ओर चले। तभी सिकन्दरने उनपर हमला किया। उन्होंने अपनी बात तोड़नेके लिए उसे धिक्कारा।

उसने कहा—‘तुम्हें किलेसे निकल जानेकी बात मैंने कही थी। सदा दोस्ती निबाहनेके लिए नहीं।’ फिर निर्भीकतासे लड़ता हुआ एक-एक भारतीय वीर मारा गया। मर्दोंके मरते ही औरतें सामने आईं और ग्रीसकी सेनाने जनानी फ़ौजसे मोर्चा लिया। भीषण युद्धमें एक-एक नारी-सैनिकने वीरगति पाई। इतिहासकार दियोदोरसने इन आज्ञाकी दीवानी औरतोंको

लेखनीसे अमर कर दिया ! प्लूतार्चने लिखा—‘सिकन्दरके जंगी यशपर यह अपयशका गहरा स्याह घब्बा था, जो कभी धुल न सका ।’

पर असली मौर्चा झेलमके तटपर था । झेलमकी राह भी खुली थी । तक्षशिलानरेश कायर आम्भीने भारतका सिंहद्वार विजेताके सामने खोल दिया था । झेलम पार दोआबका स्वामी था राजा पुरु जो अपनी मुट्ठी भर सेना लिये खड़ा था । तीन हजार घुड़सवार, हजार रथ, सवा सौ हाँथी, कुछ हजार पैदल खड़े थे । ससारकी चुनी हुई सेनाके सामने—योरप, अफ्रीका, एशियाकी सेनाके । ग्यारह हजार घुड़सवारोंके साथ खुद सिकन्दरने रातके अधियारे और बरसतेमें राह चुराई थी । क्रातेरस, मिलीगर और अनेक-अनेक ग्रीक सरदार हजारों-हजारों चुने सैनिक लिये इस पार चौकन्ने खड़े थे कि सिकन्दर हमला करे और यह मौका पाते ही नदी पार कर दुश्मन पर टूट पड़े ।

बिजली जो चमकी तो शत्रुकी दुरभिसन्धि पुरुपर प्रगट हो गई । उसने जाना कि दुश्मन नदी पार कर आया । दो हजार पैदलों और सौ रथोंके साथ उसने बेटेको भेजा । अन्जाम उसे मालूम था । कहाँ दो हजार पैदल, कहाँ चुने हुए ग्यारह हजार घुड़सवार ! जगत् प्रसिद्ध ग्रीक फ़ैलेंक्स जिनका संचालन ससारका सबसे बड़ा जनरल कर रहा था । जूझ गया बेटा, अपने दो हजार शहीदोंके साथ ।

बाप आगे बढ़ा, झेलम-तटवर्ती ज़िलोंका स्वामी राजा पुरु आगे सरका । मिस्र और ईरानी सम्राज्यके विजेताके सामने झेलम और चिनावके दोआबके एक टुकड़ेका ज़मींदार अपनी वेखौफ़ फ़ौज़ लिये खड़ा था । बेटेकी मौत सुन वह आगे बढ़ा । सिकन्दरकी सेना इस छोटी कुमकको देख तेज़ीसे आगे सरकी । पर जब आमना-सामना हुआ तब सहसा सिकन्दरने अपने घोड़ेकी बाग रोक दी । ग्रीक रिसालेकी गति रुक गई और सहसा जो उस विश्वविजेताके मुँहसे उद्गार निकला, उसने पुरुके यशमे चारचाँद

लगा दिये । 'आखिर वह खतरा सामने है', सिकन्दर बोला, 'जो मेरी हिम्मतको ललकारता है । आजका जंग बनैले जन्तुओंसे है, बाँके लड़ाकोसे, गजबके इन्सानोसे ।'

मकदूनियाके रिसालोने अपना भीषण हमला किया । चोट बाजूपर थी, पुरूके वीरोंने उसे घूमकर अपने सीनोंपर लिया । बाजू चकनाचूर हो गया ! एक-एक घुड़सवारपर पाँच-पाँच ग्रीक सैनिक थे । भारतीय वीर अपनी जगहसे हिले नहीं, यद्यपि वहीं उनकी जान निकल गई । दिनके आठवें पहर तक घमासान युद्ध चलता रहा । शहीद होते भारतीयोंकी पेशानीपर बल न पड़ा । पैदल और सवार, गजसेना और रथ सभी जूझ रहे थे ।

पुरूकी शक्ति वस्तुतः रथोंमें थी । भारतीय रथको चार-चार घोड़े खींचते थे, उसपर छह-छह सैनिक सवार होते थे । दो ढाल धारण करते थे, रथके दोनों ओर दो-दो धनुर्धर खड़े होते थे और दो सारथी, जो बढ़ते रथका संचालन करते थे । पर जब लड़ाई जम जाती तब वे रास अंकुशमें टिका गजबकी मार करने लगते, शत्रुपर तीर बरसाने लगते । पर आजकी लड़ाईमें रथ न केवल बेकार हो गये वरन् उन्हींके कारण दुश्मनकी गोटी लाल हो गई । मौसम आड़े आया । रात-दिन जो मेंह बरसता रहा था, उसने केवल सिकन्दरको नदी पार करनेमें मदद नहीं की, जमीन भी उससे बड़ी रपटीली हो गई थी । रथके घोड़े फिसल पड़ते थे, रथके पहिये कीचड़में आधे-आधे धँस जाते थे । उनका वजन भारी था फलतः धँस जाना स्वाभाविक था । तीरन्दाज जमीनपर कमानका निचला सिरा टिका लम्बे तीर छोड़ा करते थे, अब जमीन रपटीली हो जानेसे उनके सिरें टिक नहीं पाते थे ।

उधर हाथी भी बुरी तरह भड़के । ग्रीक धनुर्धरोंने जम कर उन्हें घायल किया । निशाना उनकी आँखोंको ही बनाया, फिर उन पर फरसे लेकर पिल पड़े । अब जो भेड़ोंकी तरह भभर कर हाथी भागे तो अपने ही सवारोंको उन्होंने कुचल दिया, दुश्मनसे ज्यादा अपनी ही सेनाको क्षति

पहुँचाई। पर जीत कर भी सिकन्दरने जाना कि झेलम-तटका यह करीका मैदान गागामेलाका मैदान नहीं और पुरु भी दारा नहीं है।

पुरु निश्चय ही दारा नहीं था। बेटेके जूझ जानेपर आठ पहर तक उसने जमकर लड़ाई की थी। बाणपर बाण बरसाये थे। नौ-नौ संगीन चोटोंके बावजूद वह अपनी जगह खड़ा रहा था। बदनसे लहू बहुत निकल जानेपर चोटसे जर्जर अपनी जगह खड़े रहने तकका ताव जब उसमें न रहा तब कहीं शत्रु उसे पा सका। और तब, जिस निर्भीकतासे उसने शत्रुके सवालकोंका जवाब दिया इतिहासमें उसका सानी नहीं।

खूनसे लथपथ, श्रमसे थका जब वह सिकन्दरके सामने लाया गया तब विजेता उसकी ऊँचाई देख दंग रह गया। उसने अपने चारों ओर नज़र फेंकी तो देखा कि ग्रीकोंमें कोई उतना ऊँचा न था, न सैनिक न सरदार। उसकी दिलेरीमे जरा फ़र्क नहीं पड़ा था और सिकन्दरके सामने मस्तक उठाये वह वैसे ही पहुँचा जैसे ताक़तकी आजमाइशके बाद एक जवाँमर्द दूसरे जवाँमर्दसे मिलता है।

और सिकन्दरके सवालका जो उसने जवाब दिया, वो तो बेमिसाल है। सिकन्दरने पूछा—“तुम्हारे साथ व्यवहार कैसा किया जाय?”

पुरुने तत्काल उत्तर दिया—“जैसा राजा राजाके साथ करता है!”

सिकन्दरकी बेवसी

व्यास नदीके किनारे यूनानियोंने हथियार डाल दिये । सेना अब आगे बढ़नेको तैयार न थी । कहते हैं कि पिछले तीन सालोंमें मकदूनिया और यूनानकी सेनाओंने बहुत-कुछ झेला था । दिन-रातकी लड़ाई, घरसे रोज बढ़ती हुई दूरी, दुश्मनोके बढ़ते हुए आलमकी गहराई । आखिर लड़नेकी भी तो कोई हद होती है, महत्त्वाकांक्षाकी भी कोई सीमा ।

घर छूटा, परिवार छूटा, हीत मित्र छूटे और राहमें साथी लड़ाइयोंमें खेत रहे । कपड़े फट चुके थे, स्वदेशसे उनका आना कठिन था, लूटका जीवन भी अब यूनानी सैनिकोंको नहीं भरमा पाया । व्यासके तटपर उन्होंने हथियार डाल दिये, बगावत कर दी । अब आगे न बढ़नेका फ़ैसला कर लिया ।

आगे बढ़ना कुछ खेल था भी नहीं । आगे मगधका राजा नन्द अपनी विजयवाहिनी लिये खड़ा था—नन्द, जिसने देशके सारे क्षत्रियोंका नाश कर शूद्र-राज्यकी नींव डाली, जिसने भारतका पहला ऐतिहासिक साम्राज्य स्थापित किया था, जिसकी सेना अपार थी । खबरें आती रहती थीं, कुछ सच्ची, कुछ झूठी पर ऐसी खबरें जिन्होंने सिकन्दरकी सेनाके दिल हिला दिये थे । हिन्दुस्तानमे उस सेनाने एक नई मरदानगी देखी थी । देखा कि यह नई मरदानगी हिन्दुस्तानकी अपनी थी, अपनी मरदानगीसे भिन्न, ईरानी-बलखी मरदानगीसे भिन्न, क्रन्दहारी-खुरासानीसे भिन्न । पुरुने दो-तीन हजार घुडसवारोंके साथ बीसों हजार यूनानी रिसालोंके खिलाफ़ करीमें मोरचा बनाया था । कठोंने संगलमे उन्हे जो चने चबवाये वे लोहेके थे और यदि राजा पुरु अपनी सेना लिये स्वयं सिकन्दरकी मददको न आ जाता तो कठोंकी मारसे यूनानियोंकी जो गति होती वह उनसे छिपी

नै थी । चप्पे-चप्पे जमीनके लिए जिस प्रकार भारतीय अपना खून बहा रहे थे, उससे विदेशियोने जाना कि आगे की दुनिया और कठिन है, उसको सर करना कुछ आसान नहीं । उन्होंने जो मगधराजकी भीषणता, उसकी सेनाकी विपुलता और शक्तिकी बात सुनी तो उनके तलवोंसे पसीना छूटने लगा । न यशकी तृष्णा, न लूटकी उम्मीद उन्हें अपने इरादेसे हटा सकी । यूनानी सैनिक बेक्राबू हो गये ।

सिकन्दरने उन्हें लाख समझाया, उनकी विजयोंकी याद दिलाई, हार-का खौफ सामने रखा, अपजसका डर दिखाया, पर वे टस-से-मस न हुए । उनका रोना-चीखना और बढ़ गया । व्यासकी धारामे यूनानी सरदारोंके आँसू मिलने लगे, क्योंकि अधिकतर सरदारोंने सेनाका साथ दिया । सिकन्दरके खबरोंके झूठा बतानेपर कोइनासने कहा—“कुछ अजब नहीं, मिकन्दर, कि यह खबरें कुछ अंशमे झूठी हों, पर उनकी झुठाईके बीचसे ही जिस सच्चाईका आभास मिलता है, वह स्वयं उस विपुल विपद्की ओर संकेत करता है जिससे बच पाना असम्भव हो जायगा ।” क्रोधके मारे सिकन्दर जलभुन गया । उसने अपनेको शिविरमे बन्द कर रखा, अपनी फ़ौजको, अपने सरदारोंको उसने दिनों शकल तक न दिखाई, जैसे मातम मना रहा हो । पर दिल किसीका न पसीजा, न सेनाका, न सरदारोका । सिकन्दरकी तलवार, उसका क्रोध, उसका गिड़गिड़ाना कुछ भी सफल न हुआ । शिविरसे जो वह बाहर निकला तो स्थिति उसने वही पाई, मायूसीकी ।

पहले तो सिकन्दरने अपने सरदारों और सिपाहियोंके मनकी टोह ली, पर जब देखा कि हालत पहली-सी ही डर और सदमेसे भरी है, तब वह भड़क उठा । उसने दुश्मनोंके बीच अकेले पिल पड़नेकी धमकी दी । बोला—“छोड़ दो फिर मुझे नदियोंके खतरोंके सामने, हाथियोंके क्रोधका निशाना मुझे बन जाने दो और उन जातियोंका शिकार मुझको होने दो जिसका नाम मात्र तुम्हे भयसे आक्रांत कर रहा है । लौट जाओ तुम, मैं ऐसे

जवान ढूँढ़ लूँगा जो तुम्हारे बावजूद मेरा अनुसरण करेंगे।” पर उसका भी असर न हुआ। मकदूनियाकी फ़ौजोंने उस खतरेको साफ़ देखा, जिसकी ओर सिकन्दरने इशारा किया था, पर अपनी जान सरदारकी जानसे ज्यादा प्यारी थी। अब उन्हें उसकी बाज़ी लगाना यक़ीनी मौतके सामने मंजूर न था।

बेबस सिकन्दरके मुँहसे आखिर निकल ही पड़ा—“मेरी आवाज़ बहरे कानोपर पडती रही है। मैं उन दिलोको ललकारता रहा हूँ जो बागी हो गये हैं, जो डरसे कुचल गये हैं। जाओ, लौटो वतनको, पर याद रखो कि अपजसकी स्याही अपनी पीठपरसे धो न सकोगे, भूमध्यसागरका सारा जल उसे धो न सकेगा।”

यह सिकन्दरकी आखिरी कोशिश थी, जो बेकार हुई और उसने लाचार हो सेनाको लौटनेका हुक्म दे दिया। उस अगली लड़ाइयोंके डरसे छुटकारा पा जानेपर यूनानी सेनाकी खुशीका ठिकाना न रहा। उस खुशीमें जो जशन किये, खेल-कूदमे, गाने बजानेमे, नाच-रगमें जो मस्ती दिखाई, उससे जाहिर था कि उसे नई ज़िन्दगी मिली थी, नये खतरोंसे जान बची थी। व्यासकी लहरें और गम्भीर हो तटपर टूटने-बिखरने लगीं।

चाणक्यका भविष्य दर्शन

१

चाणक्य तब बालक था, छः वर्षका । पिताकी गोदमें बैठा हुआ था । ज्योतिषी सामने चला जा रहा था । पिता कई दिनोंसे उससे बालककी ग्रह-दशा देखनेको कह रहा था । नित्य ही वह उस राह निकलता, नित्य बालकका पिता उसे टोकता, बालककी हस्तरखाएँ, उसकी ग्रहदशा देख उसका भविष्य बतलानेका अनुनय करना और नित्य ज्योतिषी बात सरका कर चला जाता ।

पिताके पास दक्षिणाके लिए पैसे न थे और सारा फलित, सारा पौरोहित्य पैसोंपर ही टिका था । इधर घरकी अवस्था बिगड़ गयी थी । घरका यह बालक अकेली सन्तान था, समाप्त होती पीढ़ियोंका अन्तिम अकुर और पिता उसीको देख ढाढ़स बाँधता था । कौन जाने, चणकका कुल इसी सन्तानके भाग्यसे समाप्त होता-होता बच जाय । पर उस स्थितिकी गणना तो केवल वह ज्योतिषी ही कर सकता था और वह अर्थहीन व्यापार करनेको राजी न था ।

पर आज वह सहसा रुक गया । पिताने जब उसे बालककी हस्तरखा देखनेको कहा तब ज्योतिषी क्षणभर रुका, उसने अपनी चुन्दी आँखें मिच-मिचायी, लम्बी बँधी शिखापर हाथ फेरा और चन्दनभरे ललाटकी रेखाओंको संकुचित करता बोला—“यजमान, बालककी हस्तरखाएँ क्या देखूँ, उसकी तो वैसे ही भावी प्रबल दीखती है । जिसके दाँत ऊबड़-खाबड़ होते हैं वह बड़ा भाग्यवान् होता है । देखो, इसका वह सामनेका दाहिनेसे तीसरा

दाँत जो अपने बाँयें वालेपर चढ़ गया है इसके भाग्यको व्यर्थ न जाने देगा । निश्चय इसे महान् बनायेगा ।”

पिता सतुष्ट उस दाँतकी ओर अभी देख ही रहा था कि बालक सहसा हिला । उसने ज्योतिषीकी ओर देखा फिर पूछा—“क्या कहा ? मुझे यह टेढ़ा दाँत महान् बनायेगा ? यह जड़ चेतनको महत्ता देगा ?” और झट वह पिताकी गोदसे गलीमें कूद पड़ा । उसने पड़ी ईंट उठा ली और उस टेढ़े बाहर निकले दाँतपर दे मारी । दूधका दाँत चोट पड़ते ही टूट गया । पिता और ज्योतिषी ‘हाँ ! हाँ !’ करते ही रह गये । बालकका मुँह रक्तसे भर गया । पर उसका व्यग्य मुसकरा रहा था । पिता घबड़ाया हुआ था, ज्योतिषी चकित, बालक विजयसे उल्लसित ।

उस जड़ टेढ़े दाँतका न होना उस अमनुजकर्मा चाणक्यकी महत्ताको कम न कर सका ।

२

“नहीं, इसे समेट दूँगा । इस लड़कोंको पढाने वाली वृत्तिसे देशका उपकार न होगा । तक्षशिलामे स्थानकी कमी नहीं, न आचार्योंकी । शास्त्रकी खोज करनेवाले जिज्ञासु अपना इष्ट वहाँ साधेंगे । मैं तो शास्त्रकी खोजमें चला ।”

“पर भाई, बड़ी निष्ठा बड़े अध्यवसायसे तुमने इन दूरसे आये विद्यार्थियोंको एकत्र किया है । अपनी मेधाके लाभसे इन्हें वंचित न करो । और देखो, चाणक्य, तक्षशिला जैसे महान् पीठोंके मारे वैयक्तिक चरणोंको विद्यार्थी दुर्लभ हो गये हैं । तुम अपने छात्रसकुल चरणको अकारण मत उठा दो ।”

“वरुण, मैं नहीं समझता इससे देशका कल्याण होगा । और इन विद्यार्थियोंकी भीखसे मेरी अकेली काया पली या न पली, कोई अन्तर नहीं पड़ता । इस युग भरकी मेरी निष्ठाने माना कुछ विद्यार्थी बटोर लिये हैं

जिन्हें अधिकसे अधिक गणराज्योंमें पुस्तपालका स्थान मिल जायेगा । और इन्हे तो तुम भी सम्हाल सकते हो, वरुण, तुम्हीं सम्हालो । तुम्हे इस कार्यमें रुचि भी है, इस शास्त्रमें आस्था भी । मैं तो इस चर्वितचर्वणसे ऊब उठा । बृहस्पति, उशना और भरद्वाजकी पद्धतिके परे भी जीवन है, जीवन जिसके दाँव-पेच आचार्योंके सिद्धान्तोंके आधार हैं । नहीं, वरुण, अब तुम इस मोहको झेलो, मैं तो इससे मुक्त हो चला । तुम चाहो तो इस शब्दजालको जीवित रखो ।”

“और जाओगे कहाँ, चाणक्य ?”

“जहाँ पच्छिमकी सारी राहें जाती हैं, बावेरुकी, परसपुरकी, उद्यानकी, उस प्राचीकी ओर, मगधके हृदय पाटलिपुत्रकी ओर ।”

“जानता हूँ, चाणक्य, तुम्हारा लक्ष्य । पर आज फिर पूछता हूँ जिसे बार-बार पूछा है—क्या सचमुच इन गणराज्योंका एका कर कुछ वही नहीं किया जा सकता जिसका तुम स्वप्न देखा करते हो ?”

“सुनो, वरुण । कभी वह आशा मुझे भी थी । मैं भी समझता था कि जो अपनी स्वतन्त्रता इतना महिमामय मानते हैं, जन-जनकी बराबरीका जिनमें इतना दावा है उन कठों-शिविकोंको, मालव-क्षुद्रकोंको, यौधेयों-अम्बष्ठोंको एकत्र कर कुछ किया जा सकेगा । पर वह उनके रहते सम्भव नहीं दीखता । ये अकेले-अकेले वीर हैं, बलिदानी हैं, पर ये चौकते तभी हैं जब इनके कोई हाथ लगाता है, इससे परे ये कुछ नहीं । ये आक्रांतासे लोहा ले सकते हैं पर अपनी सीमाओंके बाहर इनका कोई अध्यवसाय नहीं । इनको लीप कर ही कुछ किया जा सकेगा । दाराका आक्रमण अभी दो सौ साल ही पुराना हुआ । सारा सप्तसिंधु, समूचा पश्चिमी पचनद, सम्पूर्ण सिन्ध देखते ही देखते इन परस्पर लड़ते अन्तर्मुख गणराज्योंकी अकर्मण्यतासे एक-एककर ईरानकी बढ़ती सीमाओंमें समा गये । दारा और क्षयार्पणने गणराज्योंकी वही दशा की जो उन्होंने यवनोके नगर-राज्योंकी की थी । वह कहानी, मैं चाहता हूँ, फिर दुहरायी न जाय ।”

“और तुम्हारा यह इष्ट ईरानी साम्राज्य है ?”

“नहीं, मेरा इष्ट यह ईरानी साम्राज्य नहीं है। यह दारा नामधारी समाट् अपने महान् पूर्वजका नामधारी मात्र है, और इसका यह जर्जर साम्राज्य तभी तक खड़ा है, जब तक कोई इसपर चोट नहीं करता। मेरा इष्ट इसके पूर्व दाराका साम्राज्य है और उसकी एकमात्र सम्भावना पूर्वमें है, मगधमे, पाटलिपुत्रमे। नन्द सारे क्षत्रियोंका नाश कर चुका है, उसकी सेना अपार है, साम्राज्यकी पहली बार उसने स्थापना की है। कौन जाने, वही हमारे स्वप्नोंका साधक बन जाय। फिर अगर वह आस उससे पूरी न हुई तो पहला संघर्ष उस शूद्रसे ही होगा। पहले वही क्रान्ति करनी होगी, और वरुण, क्रान्तिके लिए, शास्त्रीय-शस्त्रीय दोनों, पूर्वसे बढ़ कर जनपद नहीं है। विचारोंमे पंचालों-विदेहोंने कैकेयोंको कितना पीछे छोड़ दिया, बुद्ध जिनने समताकी आँधी बहा दी, शूद्रोंने आर्ष व्यवस्थाको उलट दिया। ये तीनों मुझे अप्रिय हैं, पर ये सिद्ध करते हैं कि पूर्वमें ज्वाला है जिसका उपयोग किया जा सकेगा। इसीलिए जा रहा हूँ, वरुण, कौन जाने ?”

“जाओ चाणक्य, जाओ न रोकूँगा। भविष्य पढ़ी पोथीकी भाँति तुम्हारे नेत्रपथमे खुल पड़ा है। जाओ, अपने स्वप्नको सत्य करो। मैं तुम्हारे इस चरणको यथासम्भव नष्ट न होने दूँगा, यद्यपि जानता हूँ, इसका मोह भी तुम्हें नहीं है। यह निश्चय तुम्हारी आशाओंको रूप नहीं दे सका है और जो तुम्हारी आशाओंको रूप नहीं दे पाता उसका तुम्हारे यहाँ कुछ मूल्य नहीं। जाओ।”

“और एक बात कहता हूँ। तुमने ईरानी साम्राज्यकी बात उठायी है, सुनो, यवन नगर राज्योंको मकदूनियाका फिलिप नष्ट कर चुका है, अभी हाल। वह उन्हें जीत चुप बैठनेवाला नहीं है। अगर हुआ तो या तो वह कायर होगा या मूर्ख। पर जितना मेरे जाननेमें आया है, वह न तो कायर है न मूर्ख है। और यूनानमें ईरानी दाराके किये विध्वंसकी आग अभी लोगोंके दिलोंमें सुलग रही है। जिस किसीकी भी उधर शक्ति बढ़ी वह

एथेंसके विध्वसका बदला लेने ईरानकी ओर बढ़ेगा । वैसे भी उधर विजयी हो जानेके बाद महत्त्वाकांक्षाकी पहली चोट पूर्वमें ईरानी साम्राज्यपर ही होगी । और जो हुई तो निमिष मात्रमे यह साम्राज्य चूर-चूर हो जायगा । फिर भारतकी सीमाएँ दूर नहीं, और हिन्दुकुश लाँघना सेनाओके लिए कभी कठिन नहीं रहा । और जो कहीं पच्छिमकी आँधी हिन्दुकुश पार इधर बही तो जानो, इन गणराज्योंका वही हाल होगा जो यवन नगर राज्योंका हुआ । मगध मात्र आगे आशा है ।”

और चाणक्य सिन्धु तट छोड़ पूरबकी ओर चला गया ।

जब चाणक्यने सन्तोषसे आँखें बन्द कीं !

१

“भागो, मौर्य, भागो यहाँसे, मगधके क्रोधके तुम अब लक्ष्य हो गये । मैं तुम्हारी महत्त्वाकाक्षाएँ नहीं जानता, पर यह जानता हूँ कि परिस्थितियोंने तुम्हे महत्ताके मार्गपर खड़ा कर दिया है। यदि तुममें वह चेतना न भी हो तो वह मार्ग पकड़ो और जानो कि उसके छोर तक पहुँचे बिना तुम्हारा कल्याण नहीं।” चाणक्यने तरुण चन्द्रगुप्तसे स्नेहपूर्वक कहा । उसके साँवले शरीरपर पीत जनेऊ चमक रहा था । केश आधे पक चले थे । स्वभाव गम्भीर, मुखमण्डलकी चिन्ताद्योतक खड़ी रेखाएँ गहरी हो गयी थीं । परुष चेहरा कुछ नरम पड़ गया था ।

“जाता हूँ आर्य । और यदि वही मार्ग मेरा है तो पीछे नहीं हटूँगा । आपका वरद हस्त मेरे माथेपर हुआ तो आगे बढ़ता ही जाऊँगा । इस नन्दसे आज भाग रहा हूँ पर आशा है शीघ्र लौटूँगा । आपका आशीर्वाद मेरा कवच होगा । पर अभी इसी नगरीमें रहूँगा । संभव है सुयोग अभी आ जाय ।”

“नहीं, चन्द्र, मानो मेरी बात । भागो, और उत्तर भागो, पचनदकी ओर । समय अधिक न लगेगा, मैं भी पहुँचता ही हूँ । पाटलिपुत्रसे दूर चले जाओ । शत्रुका सामीप्य विपज्जनक है, तुम्हारे लिए । स्वयं मेरे प्रयत्नोंकी तुम अन्तिम आशा हो । मुझे निराधार न करो । मेरे प्रयासका अकुर बढ चला है । उसे फूलने दो । वरुणके यहाँ मेरी प्रतीक्षा करना, उस मेरे बाल मुहुदके पास जहाँ कोई तुम्हे छू न सकेगा ।” चरणोंमें झुके चन्द्रगुप्तके मस्तकपर हाथ फेरते हुए चाणक्य बोला ।

चन्द्रगुप्त चला गया । चाणक्य टहलता रहा । कुटी शान्त थी । उसकी भूमिसे तभी नंगे पैरोंकी चाप उठती जब चाणक्यका चिन्तित अन्तर और आकुल हो उठता । वह सोच रहा था—नन्द शक्तिमान् है पर मध्य देशके क्षत्रियोंके परे उसकी आकाक्षा नहीं । सतलज उसकी सीमा है, स्वप्नकी सीमा । प्रगट है कि उससे मेरी कामना सफल न होगी । चन्द्रगुप्त मात्र मेरा इष्ट सिद्ध कर सकेगा । पर इसके क्रोध और प्रतिशोध स्थायी नहीं । महत्वाकांक्षा है पर एकरस रहनेकी शक्ति इसमें शायद नहीं । तारुण्य पार करते ही प्रतिज्ञादुर्बल हो जायगा, पर कुछ चिन्ता नहीं, मगधको केन्द्र बनाकर साम्राज्यका आसमुद्र विस्तार किया जा सकेगा, जिससे हिन्दुकुशकी सीमा लाँघनेका किसीका साहस न हो ।

२

पाटलिपुत्र पावसमें भी चमक रहा था । पर उसके बहिरगकी आबादी सुखी न थी । नगरकी सीमाके वनोंपर अनेक पर्णकुटियाँ थी, गरीबोंकी, जिनमें बरसातकी झड़ी सदा बनी रहती । सिरपर वृक्षोंकी छाया मात्र थी, छत न थी । ऐसी ही कुटीमें वेश बदले चन्द्रगुप्त छिपा था । नन्दके चर उसे खोजकर थक चुके थे, उसे पा न सके थे । चन्द्रगुप्त गड़रियेके वेशमें दिनभर बुढ़ियाकी भेड़ें लिये इधर-उधर आह लेता फिरा करता, रातमें उसकी कुटीमें चुपचाप आकर पड़ रहता ।

एक रात दिन भरका थका वह कुटीमें पड़ा अपने भविष्यके सपने गुन रहा था कि बुढ़ियाकी पोती सहसा चीख उठी । बुढ़िया उसे खिला रही थी, एक प्रकारकी फुलकानुमा पूड़ी । त्यौहारका दिन था, चन्द्रगुप्त अपना भाग पा चुका था । जो बच्चीके रोनेका कारण जानने उठा तो बुढ़ियाको उससे कहते सुना—“मूर्ख लड़की, शिकारपर हमला किनारेसे करना होता है, बीचसे नहीं, वरना अपने ही पकड़ जानेका खतरा रहता है । जो तूने पूड़ी किनारेसे तोड़ी होती तो बीचका परत टूटता और भाग बीचसे निकल जाती, तुम्हारी उँगलियोंको क्यों जलाती ?”

चन्द्रगुप्तने सुना । आचार्यकी बात याद आई । पाटलिपुत्र छोड़ वह पञ्चनद भागा ।

×

×

×

चाणक्यका नन्दने आज अपमान किया है । उसे पिताके श्राद्धमें खाते हुए ब्राह्मणोंके बीचसे, उठा दिया है । उसी श्राद्धके बीच चाणक्यने प्रतिज्ञा की है कि उसकी जिस शिखाको खींचकर राजाने खोल दिया है उसे वह नन्दवंशका समूल नाश करके ही बाँधेगा । और तभीसे उसकी आँखोंसे अंगार बरस रहे हैं । क्रोधकी धधकती ज्वाला आज उसके रोम-रोमसे लपक रही है, नथने फूले हुए हैं, होंठ निःशब्द हैं, रह-रह कर फड़क भर उठते हैं । दाहिना कर जब-तब अंगूठे और तर्जनीके बीच जनेऊ ले उठ जाता है । कुटीमें आवाज है पर क्षुब्ध विकराल यम सदृश मानवके चरण-चापोंकी । क्षुद्र दीपकी क्षुद्रतर लौ झिलमिल रही है, पर शायद आँखोंके लाल अगारे उससे अधिक दीप्तिमान है ।

सहसा उस धूमिल प्रकाशमें किसीकी छाया डोली ।

“आओ, चले आओ । जानता हूँ कौन हो, आओ ।” चाणक्यने विना देखे ही आहट मात्रसे कहा ।

“मैं हूँ, महात्मन्, सेवामें उपस्थित हूँ ।”

“आओ, आओ, शकटार । जानता था, तुम आओगे । वह तुम्हारी अभिसन्धि थी । दुरभिसन्धि इसलिए नहीं कहता कि अभिसन्धि वह मेरी भी थी । मैं मगध कार्यवश आया था, सिद्धिके लिए । उसमें नन्दका संहार अनिवार्य था । वह होकर ही रहता । पर उसमें अब त्वरा आ गई । और अब मैं चला ।”

“मेरे लिए क्या आज्ञा है, आचार्य ? सेवक सभी प्रकारसे चरणरत है ।” शकटारका मस्तक भूमि चूम रहा था । -

“आचार्य शकटारोकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता, मन्त्री । जाओ, तुम्हारी आकांक्षा फले, प्रतिशोध पूरा हो !”

“मैं अपने कृत्यसे लज्जित हूँ, आचार्य ।”

“शकटार, मैं तुम्हें दोषी नहीं मानता । शत्रुसे बदला लेनेके लिए जितने उपाय प्रयोग्य हों उतने निश्चय प्रयुक्त होने चाहिए । तुम्हारा प्रयत्न साधु था । मैं तुम्हें अपने अपमानका दोषी नहीं ठहराता । बताया न कि होना वही था पर तुमने उसमें त्वरा ला दी, उसे गति दे दी । मुझे एकान्त चाहिए । जाओ ।” और शकटार चला गया । आचार्य चुपचाप टहलता रहा ।

३

“नहीं, चन्द्र, यह आँधी रुकनेकी नहीं । इसे रोकनेकी चेष्टा न करो, विपन्न हो जाओगे, और मेरी एकमात्र आशा नष्ट हो जायेगी । यह फ़िलिपका लाड़ला है, दिग्विजयी, ईरानी साम्राज्यकी जड़ें इसने उखाड़ फेंकी हैं । नष्ट कर देने दो इसे ये गणराज्य । अपना कार्य हल्का हो जायेगा ।” चाणक्यकी मुद्रा सतेज थी ।

“पर यह क्या देशद्रोह नहीं है, आचार्य ?”

“नहीं, यह अवसरपालन है । इसे शक्तिक्षीण हो जाने दो । इसके लौटते ही सारा पंचनद, सीमान्त तक तुम्हारा होगा ।”

“पर, आचार्य, पग-पगपर वीरोंकी आहुति कैसे देख पाते हैं, आप ? मुझसे तो नहीं देखा जाता ।” चन्द्रगुप्त थका-सा बोला ।

“उसे देख पाता इसलिए हूँ कि मेरी आशा फल रही है । वीर कौन है ? आम्भी, जिसने देशका सिंहद्वार शत्रुके लिए खोल दिया ? पुरु, जिसने पहले पिप्रमके विरुद्ध शत्रुकी सहायता की, फिर कठोंके विरुद्ध ? हाँ, कठोंकी बात और है पर उन्हें तो हमें भी नष्ट करना ही था, सो अपना काम हल्का हुआ और तुम जो वह देख पाते जो मैं देख रहा हूँ, जो

चाहता हूँ, तुम देख पाते, तो मेरे विश्वासको शक्ति मिलती। नहीं, चन्द्र, अभी और देखो कि जीवनभर तुम्हें दूसरे देखें।” चाणक्यकी आँखें प्रसन्नतासे चमक रही थी।

चन्द्रगुप्त चुपचाप एक ओर चला गया।

×

×

×

“कौन हो, तरुण ?” सेना निरीक्षण करता सिकन्दर उधर मुड़ पड़ा जिधर चन्द्रगुप्त छद्मवेशमे घोड़ेपर सवार खड़ा था। सिकन्दरने उसकी ओर बढ़कर पूछा।

“स्वच्छन्द सामरिक, विजेता, आयुधजीवी।” तरुण बोला।

“सिकन्दर आयुधजीवियोंकी अपेक्षा नहीं करता, मित्र।”

“सुना है, लौट रहे हो, विजेता।” चन्द्रगुप्तने पैरसे तलवार उछाली।

सिकन्दर व्यासके किनारे था जहाँ उसकी सेनाने हथियार डाल नन्दके डरसे आगे बढ़नेसे इनकार कर दिया था और जब लाचार होकर सिकन्दरने उसे लौटनेकी आज्ञा दे दी थी, ग्रीक पड़ावमे खेलकूद हो रही थी, खुशीकी हृद न थी। चन्द्रगुप्तके उस दुखती रगको छूते ही सिकन्दर चमका।

बोला—“मतलब ?”

“मतलब कि आगे मगध है और मगधका स्वामी नन्द कमजोर हाथों तलवार नहीं पकड़ता। पुरु और आम्भी उसके सामन्त होनेकी भी क्षमता नहीं रखते।” चन्द्रगुप्तने घोड़ेको एड़ लगा दी।

सिकन्दरका चेहरा तमतमा उठा। उसने आवाज लगाई—“पकड़ो उस बर्बरको !”

सेल्यूकस, पर्दिकस, मिलीगर, क्रातेरास सभी दौड़े, पर एक भी उसे न पा सका। हाथ नहीं आया चन्द्रगुप्त। क्रातेरसका भाला टूट गया, पर्दिकस और मिलीगर धूल चाटने लगे, सेल्यूकसका टोप चन्द्रगुप्तके भालेकी नोकपर था। और जब उसने प्रातःकालकी हल्की धूपमे अपने भालेपर

चमकते उस टोपको आचार्यके चरणोंमें रखा तो आचार्यने उसे छातीसे लगा लिया ।

अभी चन्द्रगुप्त कुछ कहने ही वाला था कि आचार्य बोल उठा—
“सुन चुका हूँ, तात । सब सुन चुका हूँ । मेरे पाँच चर तुम्हारी रक्षा कर रहे थे । तुम्हारी शक्ति वे जानते थे, इसीसे उन्होंने तुम्हारे शिकारमें हस्तक्षेप नहीं किया । चिर विजयी हो !”

चन्द्रगुप्त उस अमनुजकर्मा ब्राह्मणको मन्त्रमुग्ध देखता रहा ।

४

तीस वर्ष बाद ।

अब तक भारतकी राजनीति बदल चुकी थी । नन्दोंका संहार हो चुका था । पचनदके गणराज्य जो सिकन्दरसे सर न हो सके थे, चन्द्रगुप्तके शस्त्र और चाणक्यकी मेधाके अन्तरालमें समा गये थे । ससागरा पृथ्वी जीती जा चुकी थी । हिन्दुकुश लांघनेका जो सीरियाके सम्राट् सिकन्दरके सेनापति सेल्यूकसने साहस किया तो चन्द्रगुप्तने उसे कुचल डाला ।

चाणक्यके जीवनकी सन्ध्या थी । शय्यापर पड़ा हुआ था । मन्त्री-सामन्त हाथ बाँधे खड़े थे । शय्या पकड़े सब कुछ हारा-सा बिन्दुसार बैठा था ।

चाणक्य कह रहा था—“चौबीस वर्ष इस घराका उसने अविकल शासन किया । वीर था, मनस्वी था, पर क्षपणकोंकी प्रवंचनाका शिकार हो गया था । अनधिगतके अधिगमनको रक्तपात कहने लगा था और एक दिन जब मैंने उस मुण्डित मस्तक जैन भिखमगेको बन्दी कर लिया तब वह रोषमें आकर मुझसे बहस कर बैठा । मैंने कहा, वृषल, यह ससागरा पृथ्वी चाणक्यकी जीती हुई है । उसके विजितमे कोई उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता । जो करेगा वह इस साम्राज्यमें नहीं रह पायेगा । और एक दिन प्रासादसे बहू गायब हो गया । चरोने बताया, वह नर्मदा

पार चला गया, महिषमण्डल (मैसूर) की ओर । बस इसीका क्षोभ है ।”

“पर आचार्य, आपको आज दुःख किस बातका है ?” ससागरा पृथ्वी आपकी है । आपके शिष्यका तनय शिष्यवत् ही आदेशका परिपालक है ।” बिन्दुसार नतमस्तक हो बोला ।

“दुःख नहीं है, अमित्रघात, केवल उस प्रिय पात्रकी स्मृति जब तब मानसको विकल कर देती है, विशेषकर इससे कि प्रतापनष्ट हो वह क्षपणकोंका श्वेत चीवर ले बैठा है । पर हाँ, सन्तोष है मुझे कि मेरी इस धराका स्वामी आज तू है जिसने अमित्रोंका संहार कर अपना विरुद्ध सार्थक किया है । यह पृथ्वी चिरकाल तक तुम्हारे प्रतापसे राजन्वती हो !” आचार्यने चुपचाप आँखें बन्द कर लीं ।

और, कुछ मिनटोंके बाद वह शक्ति मगधसे उठ गई जिसके नामने मैसूरसे सीरिया तकके राजाओमे आतक भर दिया था ।



तिष्यरक्षिता

कलिंगका सागरवर्ती देश । फैली बालुकामयी तटवर्ती भूमि । हरित-श्याम ताल-नारिकेल-पुन्नागोंका रम्य कान्तार । सामने अनन्त-अनन्त सीपी और शख उगलता उद्दाम रत्नाकर । तटपर टूटती नीलाभ वक्र वेलाओकी बिखरती धवल झाग । कलिंगपत्तनकी सागरवर्ती सागरपारको छूती व्यापक कीर्ति जिसके बन्दरमे मिस्र और तीर, सोदोम और रोमके वणिक्पोत प्रवेश करते और अपना बहुमूल्य पण्य उतार सुवर्णसे अपने तले भर लगर उठाते । और वह स्वप्निल कन्या जो कभी नारिकेलोंकी श्यामायित रेखामे बिखरती लहरों द्वारा फेंकी अनन्त रंगोवाली सीपियाँ बटोरती, अब उन पोतोंको अपलक निहारने लगी थी, जो नीलाम्बरके नीचे उछलती नील-सागरकी लहरियोंके शिखरपर नाचते पत्तनकी परिधिमे आ जाते ।

राजकन्या थी वह, प्रभात वायु-सी मृदु, खुलते कमलकी पखुड़ियों-सी टटकी, प्रतिबन्धसे हीन, वेगपूर्वक पवनसे हिलाये आमकी गिरती मंजरियों-सी अलहड़—चन्द्रमाकी एकस्थ चौदहो कलाके संघातसे उद्भूत जैसे एक किरण, जैसे उस समूची किरणकी एक बूँद ।

एक दिन कलिंगपर विपद् व्यापी । मगधका शकु अपनी पैनी नोक किये उसके मर्मको वेध चला । तरुण अशोकने उत्तर भारतके उस अकेले कलिंग-के प्रति अभियान किया था जो आज भी अविजित था । नन्दोंने कभी उसे जीता था, कालिंग विद्रोही हो उठे थे, स्वतंत्र । मौर्य चन्द्रगुप्तने उन्हें फिर जीता था और फिर वे स्वतंत्र हो गये थे । अशोक अपने परशु-कुठार लिये उनपर जब अन्तक यमकी चोट करने कलिंग पहुँचा तब कालिंगोंने लाखों सैनिक युद्ध-भूमिपर उतार दिये । सग्राम देवासुरका-सा हुआ पर विजय अशोककी हुई । लाखों मारे गये, लाखों आहत हुए, लाखों समर संभूत

रोगोंके आहार हुए। कलिंग विपन्न हो गया। प्रतिक्रियाने अशोकके मर्म-को छुआ, उसने उपगुप्त तिष्यसे दीक्षा ली, बुद्धकी शरणकी शपथ ली।

तब तिष्यरक्षिता अबोध थी, नितान्त अबोध, सागरकी टूटती वेलाओं-से शंख-सीपी लूटनेवाली बाला। एक युग तबसे बीत चुकी था, और भी अधिक, प्रायः दी दशक बीत चुके थे जब राजकन्या पोतस्वामियोंसे अपने अटूट प्रश्न करती और उनके उत्तरकी परिधिसे परे भटक जाती। वस्तुतः राजकन्या अब वह न थी, पिताने युद्धमे पराजित हो कबका काषाय ले लिया था और अब जब उपायनके रूपमे वह पाटलिपुत्रके राजप्रासादमें पहुँचा दी गई तब उसकी संज्ञा तिष्यरक्षिता हुई।

पर तिष्यरक्षिता वह हो न सकी। काषायधारी लोकविरत अशोक-गुरु भिक्षु तिष्यने उस तरुणीके मनोवेगोंको रोकनेकी, अपने आकर्षण-केन्द्रोंसे फेरनेकी बहुत जुगत की, पर न चली जुगत उस महाभिक्षुकी, और उच्छृङ्खल शक्तिम तुरग जैसे कुशल सारथीकी रज्जुओंको तोड़ अप्रतिहत दौड़ जाते हैं, तरुणीके मनोरथ भी वैसे ही अपने प्रतिबन्धोंको तोड़ अनिर्दिष्ट इष्टकी ओर सवेग दौड़ पड़ते। तिष्यकी आशा थककर प्रयत्नविरत हो जाती और अशोक अनमना हो उठता। पर नाम तो तरुणीका पड़ ही गया, पाटलिपुत्रके महलोंका दिया, तिष्यरक्षिता।

तिष्यरक्षिता विरत थी, मगधसे, मगधके वैभवसे, अशोकके भावविलास-से। तरुणीके रोम-रोममे मदनका अल्हड़ उल्लास था जिसे अघेड़ अशोककी वासना एकाकीकी गहरी निपट एकाकी छायामें उभारती और जिसका परिणाम अत्यन्त कठिन हो उठता, दोनोंके लिए, मांसल तरुणीके लिए भो, दुर्बल, काम-लोलुप अशोकके लिए भी। नये आमकी मधुमासकी नई मजरियोंको जैसे सांघातिक पवन झकझोर देता, मजरियाँ धरापर चू पड़तीं। हजार कण्ठसे जैसे नारीकी तपी देह अपने भाग्यको कोसती, अपने यौवनको और अपनी कायाकी उन सन्धियोंको जिनमे सौन्दर्यके झूले डाल

मन्मेथ झूलता है । राजाको वह कुछ न कहती क्योंकि राजा राजा था, पति था, उसके पातिव्रतका प्रहरी था, चोट खाया हुआ नाग था ।

पर केवल कहती न थी वह, गुनती पर्याप्त थी और ध्वनिके अभावमें उसका मानस भावोंके अन्तर्द्वन्द्व, उनकी आक्रमण भूमि बन जाता । संकल्प-विकल्पकी आलोडित-प्रत्यालोडित लहरियाँ अपने अनन्त विस्तारसे तरुणीकी फुट भर चौड़ी छाती घेर लेतीं । दूर देखती आँखे सहसा मुँद जाती और गगा-सोनकी सम्मिलित जलरेखा भी अपने अभिराम कलकलसे उन्हें फिर खोल न पाती । तरुणी निस्पन्द दैवकी मारी-सी ऊपरसे शान्त, भीतरसे नक्रविकल झीलके जल सी चुप बैठी रहती ।

×

×

×

एक दिन कुछ हो गया । मन सहसा डोला और कहीं जा लगा, मन जिसको तिष्यके उपदेश विरत न कर सके थे, जिसको अशोकके शिथिल भावतन्तु अपनी ओर खींच न सके थे । राजकुलका परिचय तिष्यरक्षिताको प्राप्त था । पाटलिपुत्रके रनिवासमें जो स्वयं उसका प्रभुत्व फैला था तो उसे दूसरोंका परिचय पानेकी कभी न तो लालसा हुई थी न आवश्यकता । उसके प्रसादके लोभके लिए रानियाँ और साम्राज्यके कर्णधार कर-बद्ध खड़े रहते और जब-तब वह अपने कृपाकटाक्षसे उन्हें उपकृत कर देती । पर बाहरका वह जनसंकुल परिवार उसके भीतरसे कितना भिन्न था ! कितना रिक्त था उसका अन्तर, कितना सीमाहीन परिधिहीन और किस क्रूर मात्रामें अपने व्यासकी रेखा लिये कन्दर्प उस परिधिपर नित्य दौड़ जाता ! धैर्यके परिकर टूट जाते, रागका स्रोत सूख जाता, पार्श्वधर अशोकका अनुनय नारीको क्षुब्ध कर देता । पर नारीका नर कहाँ था ?

आया एक दिन नारीका वह नर जब प्रत्यन्तोसे मगधवाहिनी लौटी और जब पिताके साधुवादके बाद उसने माताके चरण छूए । माता न थी वह । मात्र तिष्यरक्षिता, पर ऐसी जिसपर डाले तिष्यके घेरेके सूत कबके

टूक-टूक हो चुके थे। क्षणभरको आँखें चार हुईं। चपला जैसे एक-बार हियेमे कौंधी और रोम-रोमको उजागर कर गई। मनकी शक्तिने मनोरथोंकी आँधी रोकी वरना जैसे लगा कि अबतकके सारे मूक उल्लास, सारी विजनकी सोची साधें, सारी अपूजी आसों उसी मात्र क्षणके लिए रुकीं थीं, उनका सहसा बाँध तोड़ उमड़कर बह चलना उसी क्षणके लिए रुका था।

धर्मशास्त्रोंके व्याख्यान एक बार मनके ऊहापोहमें घूम गये, आचार्योंके उपदेश अन्तरमें चमके और विलीन हो गये और तिष्यके सयमने भीतर झाँका और लजाकर लौट पड़ा। राजाका पौरुष क्षुब्ध किंचित् न हुआ, घुटने उसने निश्चय टेक दिये।

दो नयन। बडरे, जो नयनोंमें समा न पाते थे, पर उनके प्रभावका आयतन बड़ा था। निरन्तरने उनके व्यापक अभियानसे पहले दिनों-सप्ताहों-मासों अपनी भूमि मर्दित न होने दी, बचा रखी। पर मानसकी कुटिल सज्जाने उसे धोका दिया। स्मृतिका अवलम्ब सुखद और दुःखद दोनों होता है, जैसे साक्षात्से परोक्षकी चोट गहरी होती है, अनवरत। पलकवोक्षिल निद्रागत मानस स्मृतिके कुठारसे पलपल चुटीला होता रहता है और पलपल जागरणकी अवधितक, उसे सजोता है जिसका संजोना पाप है।

नयन वे न मुँदे। नयनोंकी राह मानस-पटलपर उतर आये। खण्ड-रिचके-से वे नयन जिनकी चञ्चलता उस पक्षीके लिए भी उपदेश होती, तिष्यरक्षिताके अनन्त रिक्त अन्तरप्रसारमे फैलकर भर गये थे। कुणालके वे नयन जिनको अशोकके तनयकी वह तापसी काया धारण करती थी विलाससे जिसका मोह न था। पर उससे क्या ?

किसने जानकर दिया ? और किसने जानकर लिया ? पर जिसने पाया उसने उसका धन भी जाना, उसकी पीड़ा भी जानी। तिष्यरक्षिताका नैतिक सबल बड़ा था। मगधके वैभवकी वह धनी थी, साम्राज्यकी प्राचीरें उसकी मुट्ठीकी रेखाओंमें सोती थीं। सद्धर्मके काषायधारी स्थविर

उसके अनुचर थे। विलासकी वेलाओंको उसने कबका दबा दिया था। उसने मनको क्षुब्ध न होने दिया, मनका मोल भी उसने न माँगा और जब स्वर्णकी शय्यापर वह स्वामीके अंकगत होती तब उसे ग्यारहों प्राण समेट कर शरीरकी सारी सौन्दर्य-सन्धियाँ खोल उसे भेंट देती। पर मन जैसे पुकारकर कह उठता कि सयमसे निरुद्ध जितना भी प्राणमय अभिराम मोहक कलेवर है उसे ले लो, राजन्, पर नहीं कर पाती मनके ऊपर अधिकार, नहीं दे पाती तुम्हे मनका सहकार। तन ठीकरे-सा है, उससे मन तबसे विरत हो गया जबसे उन नयनोंने उसका मोल न आँका। अब स्वयं उस मनका कोई मोल नहीं, फिर इस तनसे क्या? सो ले लो तुम यह तन।

और एक दिन जब प्रासादके प्रमदवनमें आपानककी परिधिमें लोचन वारुणीके मदसे अर्धोन्मीलित हो प्रजाग्रत संज्ञास कुछ कह बैठी, तब दोनोंपर दोनोंका भेद खुल गया—तिष्यरक्षिताके प्रणयका कुणालपर, कुणालकी लाचारीका तिष्यरक्षितापर।

अग्राह्यका कुणाल तिरस्कार न कर सका यद्यपि मोहको उसने वेदनाके कृपाणसे काट डाला। चला गया वह फिर अन्तोंकी ओर, गान्धार-तक्ष-शिलाकी ओर, गंगा और शोणके कोणसे दूर।

और तब एक दिन जब निदाघसे डही धराको पावसकी पहली बयारने शीतल परसा, रिमझिमकी गुद्गुदी धराकी सुरभि दिशाओंकी ओर ले उड़ी, तब मर्महत तिष्यरक्षिताने संवाद भेजा, “निसर्ग नाच रहा है, प्रकृतिकी स्त्री पुरुषके स्पर्शसे ऋतुमती हुई है, उसे कुछ भी अदेय नहीं। नयनोंकी राग-रेखा मानसकी मद-रेखा बन गई है। उनके दर्शनकी स्मृति तडित्की चोट करती है। उन नयनोंको क्या फिर देख न पाऊँगी, नयनोंमें भर न पाऊँगी, पलकोंसे परस न पाऊँगी?”

वाहक सीमान्तसे लौटा, अमूल्य उत्तर लिये। तिष्यरक्षिता देवलके द्वारसे अभी निकली ही थी, घुटने टेक उसने अंजलि बना उपायन माँगा।

वाहकने एक कमल उस अंजलिमे रख दिया । धीरे-धीरे अपने नयनोंके नीचे देवीने उस कमलको खोला । कमल खुलता गया जैसे सम्पुट पद्म । पर जब वह खुला तब तिष्यरक्षिताकी संज्ञा क्षणभर उसे देख विलुप्त हो चली, धीरे-धीरे, परन्तु क्षणकी परिधिमे ही, क्योंकि क्षण चिरकालिक हो चुका था । तिष्यरक्षिताने देखा, कमलदलमे बन्द दो विशाल नयन थे—
कुणालके नयन !

अश्वमेध

युगोंका प्रताप तप रहा था। पुरोहित पुष्यमित्रने मौर्योंके अन्तिम सम्राट् बृहद्रथको समूची सेनाके सामने खुले आम मारकर मगधका साम्राज्य छीन लिया था। शास्त्रचेता ब्राह्मणने शस्त्र धारण किया और उसका ऋत्विज् दर्शनकार पतञ्जलि बना।

सदियोंसे जो ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष चला आता था उसीकी यह परिणति थी कि भारतका सुविस्तृत भूखण्ड तीन भागोंमें बँट गया था और तीनों ब्राह्मण शासनमें थे—मगधका उत्तरवर्ती साम्राज्यका विधाता सेनापति पुष्यमित्र शुंग था, पूर्ववर्ती कलिंगका सम्राट् ब्राह्मणवंशी जैन सम्राट् खारबेल था, और समुद्रान्त दक्षिणा पथकी प्रशस्त पृथ्वीके भोक्ता परशुरामकर्मा आन्ध्र-सातवाहन थे।

मगधकी सीमाएँ यद्यपि पिछले मौर्योंने अपनी कायरतासे सकुचित कर ली थीं, पुष्यमित्रने जिस साम्राज्यको सम्हाला उसका विस्तार मालवासे सिन्धु नद तक था, बंगालसे पच्छिमी पजाब तक। उसने बाख्त्रीके महान् भारत-विजेता ग्रीक देमित्रियस्को एक ओरसे पाटलिपुत्रमें प्रवेश करते दूसरी ओरसे राजगिरिकी पहाड़ियोंमें मगधराजको भाग जाते देखा था और उस १५ वर्षके किशोरकी नसों रक्तसे तन गई थीं, मन कुण्ठासे भर गया था। उसने प्रण किया था कि वह ग्रीकोंको देशसे बाहर कर देगा, मौर्योंसे शासन-रज्जु छीनकर देशकी ग्रीकोंके अत्याचार और मौर्योंकी कायरतासे रक्षा करेगा।

रक्षा की उसने देशकी, दोनोंसे। और उसने सम्राट्का विरुद्ध भी स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया। उसे उसकी जगह 'सेनापति' संज्ञा अधिक रुची। उचित भी था, जीवन पर्यन्त सेनाका स्वामी होनेका ही उसे

गर्व था और जनताने भी उसे म्लेच्छोंके विरुद्ध देवसेनाका सचालन करने वाला सेनानी ही माना ।

पुष्यमित्रने दो-दो अश्वमेध किये । पहिला अश्वमेध शक्तिकी परीक्षाके लिए था । ग्रीक मध्यदेशको रौंद रहे थे, बौद्ध विहारोमे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र हो रहे थे । बौद्धोंने विदेशी ग्रीकों तकको स्वदेशके विरुद्ध चढा लानेमें लाज न मानी । उनके प्रोत्साहनसे समानधर्मा शाकल (स्यालकोट) का ग्रीक राजा मिनान्दर मगधपर चढ आया । शुंगराजने गंगा-जमुनाके द्वाबमे उसे परास्त कर मार डाला और अपने विरोधी षड्यन्त्रकारी बौद्ध विहारोंको पाटलिपुत्रसे जालन्धर तक जला डाला । शाकल पहुँच उसने ऐलान किया—“जो मुझे एक श्रमणसिर देगा उसे मैं १०० दीनार दूँगा ।” सस्कृत भाषा लौटी, यज्ञ-कर्मकाण्ड लौटी, ब्राह्मणोंकी सत्ता लौटी ।

परन्तु बाख्त्री अब भी भारतकी सीमापर ललचाई आँखों देख रहा था । जब तब ग्रीक-बाहिनी भारतीय दुर्ग-शृंखलाको भेद देशके अन्तरगपर चोट करती और मगध सहसा जग पड़ता । कुछ ही काल पहिले ग्रीकोंने जब मगधपर प्रहार किया था तब साम्राज्यकी सारी चूल् हिल गई थी, दुष्ट विक्रान्त यवनोकी चोटसे प्रान्त बिखर गये थे ।

उससे जब-तब ग्रीकोंके नामसे जनता आतंकित हो उठती । पुष्य-मित्रने तब उनको देशसे सर्वथा निकाल बाहर करनेका निश्चय किया । दूसरे अश्वमेधके लिए तब उसके गुरु महर्षि पतञ्जलिने यज्ञ-रचना की ।

साम्राज्यका सबसे ताकतवर घोड़ा चुन लिया गया । जब वह कानोंको ऊँचाकर पिछले खुरोसे भूमि खोदने लगता, लगता कि जैसे उच्चैःश्रवा पृथ्वीपर उतर आया है । पर समस्या यह थी कि उस निरगल तुरगकी रक्षा कौन करे ? उसकी रक्षक सेनाका सचालन कौन करे और यह सैन्य-सचालन उन दुर्मद यवनोके विरुद्ध था युद्धमे जिनका साका चलता था । मगधमे वीरोंकी कमी न थी । साम्राज्यमें अराजक राष्ट्रोंमे एक-से-एक बढ़कर बाँके सैनिक थे, एक-से-एक रण-बाँकुरे,

पर पुष्यमित्रको उनसे आश्वासन न हुआ। एकके बाद एक युवक सेनापतिके सामने सिर झुकाये अश्वरक्षाका प्रण करते पर यज्ञ-दीक्षित सेनापति हतप्रभ हो उठता। रात-दिन उसे चिन्ता लगी रहती कि रक्षकके अभावमें अश्वमेधका उसका प्रण कहीं हास्यास्पद न हो उठे। अश्वका छोड़ना कुछ आसान न था। बगैर लगामके उसे सालभर आजाद घूमना था, शत्रुकी भूमिपर, और रक्षकको अपनी सेना लिये उसकी रक्षाके लिए पीछे-पीछे फिरना था। राह रोकने वालोंकी, शृंगोंके प्रचण्ड प्रतापके बावजूद, कमी न थी। ग्रीकोंके दल-के-दल जंगलों-पहाड़ोंमें छिपे फिर रहे थे। उनके राष्ट्रका विनाश हो चुका था पर भूमिका लालच अभी उनमें मरा न था।

मनुष्य सरबस खो देता है पर आशा नहीं मरती। उसी आशापर ग्रीक भरोसा किये बैठे थे, जंगल-जंगलकी खाक छान रहे थे। साहस उनमें स्वाभाविक था और अब उन्होंने साहसिकतापर कमर कसी थी। साम्राज्यकी दुर्बल सीमापर वे भरपूर चोट करते और जनताको छिन्न-भिन्न कर देते। और अब जो उन्होंने शत्रुके अश्वमेधकी बात सुनी तो शाकल और सिन्धुनदके बीच उनके पैतरे बढ गये। अन्तिम बार सब कुछ दाँवपर लगा देनेके लिए वे एकत्र होने लगे।

एक दिन महर्षि पतञ्जलिने चिन्तनशील सेनापति पुष्यमित्रके पास पहुँच कर कहा—सेनापति, अश्वका रक्षक लाया हूँ, उसे सैन्य-ध्वज सौंपो।

चकित पुष्यमित्रके नेत्र प्रसन्नतासे चमक उठे। उसने जो महर्षिके पीछे अर्धावृत द्वारपर दृष्टि डाली तो अपने पौत्र वसुमित्रको प्रवेश करते देखा। उसकी भृकुटियोंमें तनिक बल पड़ गया और द्वारकी ओरसे उसकी आँखें अर्थकी आशासे पतञ्जलिकी ओर लौट पड़ीं।

“सेनापति, पौरुषके अनुबन्ध, अप्रतिम शस्त्रधर वसुकी तुम्हें कैसे याद न आई? उत्तरापथमें इसकी जोड़का लड़ाका और कौन है, पुष्य?”

“वसु बालक है, गुरुदेव। उसके बलका अटकल मुझे है। उसके रणसे

अविजित लौटनेका प्रण मागध तरुणोंकी शपथ है, यह भी जानता हूँ, देवता । फिर भी कहता हूँ, वसु बालक है । बालक आगकी लपटोंमें कूद सकता है, शायद बनैले बिगड़े हाथीको बाँध सकता है, अभिमन्यूका आचरण कर सकता है, पर अभिमन्यूका आचरण अश्वकी रक्षा नहीं करेगा, महर्षि । वही उसकी रक्षा कर सकता है जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर अश्वको सकुशल लौटा लाये, और उसके सकुशल लौटनेकी राहमें दुष्ट विक्रान्त यवन भल्ल लिये खड़े हैं ।”

“खड़े रहने दो, सेनानी । वसु पुष्यका प्रतिनिधि है । पुष्यका पौरुष वसुमें फिरसे ऊर्ध्व-रक्त हुआ है । शत्रु नहीं जिसे वसु परास्त न कर सके । शका न करो । वसुमें पौरुष और मति दोनों हैं, पौरुष और मति जिनसे मौर्योंका राजदण्ड कभी तुमने बृहद्रथके हाथसे छीना था ।”

“पर, गुरुदेव, धारिणी ?”

“धारिणीकी चिन्ता न करो पुष्य, वह वीर-प्रसवा है । जानती है कि वसुन्धरा वीर-भोग्या है, और कि उसका वसु धराको धारण करेगा ।”

फिर वसुमित्रकी ओर देख महर्षि बोले, “वसु, पितामहका आशीर्वाद ले ।”

घुटने टेके पोतेके सिरपर हाथ फेरते हुए पुष्यमित्रने कहा, “उठो, वत्स, पिताके प्रमादका प्रायश्चित्त करो । जानता हूँ अग्निका क्रोध और धारिणीकी चिन्ता दोनोंका मैं शिकार हूँगा पर राष्ट्रकी आवश्यकता और गुरुकी आज्ञाके हित तुम्हें अश्व सौप चिन्तासे विरत हो जाऊँगा, भारका दण्ड धारण करो ।”

पितामहने पोतेको डबडबाई आंखों भेंटा । पोता पितामह और महर्षिके चरण छू कमरेसे बाहर निकल गया ।

६ महीने बाद ।

क्षितिजसे उठते अरुणकी तरह वसुका तेज दिगन्तमें अब तक फैल चुका था । बालक समझ ग्रीकोंने जो स्थान-स्थानपर उसकी गति रोकनेकी

चेष्टा की तो उन्हें बार-बार मुँहकी खानी पड़ी। मथुरा और शाकल लाँघता, घोर जगलोंकी राह जब वसुमित्र पचनद लाँघ सिंधुके तट पहुँचा तब वही ग्रीकोंकी सेनाने जमकर उसका सामना किया। सिंध और पंजाब, गांधार और उद्यानके ग्रीक, घुमक्कड़ शस्त्रधर, आयुधसेवी सैनिक दूर-दूरसे आकर उनके झण्डेके नीचे खड़े हो गये। चोट खाये साँपका क्रोध था उनका। फन फैलाये आममानमे उन्होंने माथा टेका। जूझने या जीतनेके लिए वे रणक्षेत्रमे उतरे। भयानक युद्ध हुआ, पर साँझ लगते-लगते मगधका तुमुल जयनाद भागते ग्रीकोंके कानोंमे गूँज उठा। सिंधुतटसे जो उनके पैर उखड़े तो निरन्तर उखड़ते ही गये—सिंधसे, गांधारसे, उद्यानसे। हिन्दुकुश लाँघ फिर वे बाख्त्रीमे हो जाकर रुके। विजयी वसुमित्र लौटा। दीक्षित पुष्यमित्रका अश्वमेध सपन्न हुआ।

थीबियाका दौत्य

बाईस सौ साल पुरानी बात है । भारतकी सीमापर ग्रीकोंका प्रखर ताप तप रहा था । बाख्त्रीकी उपत्यकामे वक्षु नदीके तटपर केसरकी क्यारियोंमें अतिकाय ग्रीक अभिराम नवयौवनाओंको छेड़ते और केसरके कुसुमोंकी धूल उनके कुन्तलोमें भर जाती । बरसी पराग माथेसे उठाये जब वे अपने घरोंको जातीं तब उनके स्वामी तेजहीन हो मलिन मुद्रासे उन्हें देखते और यह जानकर कि यौवनका नवरस केसरकी क्यारियोंमें उनकी ललनाओके सांनिध्यसे बहता है, पुरानी परम्पराका अनिवार्य अंग है, चुप रह जाते थे ।

थीबियाका यौवन भी उन्हीं क्यारियोंमें बरसती परागकी छायामें उठा और दिमितके परसते हाथोंसे निखर चला, पर एक दिन जब दिमित भारतकी सीमा पार कर चला, तब, हिमके भारसे जैसे कमल कुम्हला जाता है, थीबियाका यौवन भी मलिन हो चला । उसके विलासको दिमित वैसे ही भूल गया जैसे हिन्दूकुशकी ऊँचाइयाँ हिमपातके समय वसंतके सौरभको भूल जाती हैं ।

दिमित हिन्दूकुश पार कर चुका था । पत्तन और माध्यमिका होता वह पाटलिपुत्र पहुँचा । पाटलिपुत्र मगधकी राजधानी था । मौर्यवंशके अप्रतिम राजा मगधका शासन कर चुके थे । मौर्योंकी शक्तिका अपराह्न हो चुका था और बस अब सन्ध्या शेष थी और दिमितके आक्रमणने रात ला दी, अमाकी गहरी काली रात । लोहेसे आग बरसने लगी । पाटलिपुत्रके प्रासाद धूलमें मिल गये । नगर ध्वस्त हो गया । नर-नारी जो बचे, नगरसे बाहर निकल गये । नगरपर राहुका पजा पड़ा ।

×

×

×

नीरव रजनी चन्द्रके आलोकसे कुछ चमक चली थी। नगर स्तब्ध था। ग्रीक गाँवमे जाते, बाजके-से पजे मारते और गृहस्थोंकी नारियाँ हर लाते। एक रात जब पण्डितनुदके राजभवनमें हल्की रागिनी अपने स्वरसे धीरे-धीरे पहरुओंके मनको डाँवाडोल कर रही थी, दिमित अपनी कमजोर भावशृंखलाको तोड़ उठ खड़ा हुआ और चला उस दिशाकी ओर जिधरसे उस मंदिर रागिनीका स्वर धीरे-धीरे उसकी ओर बहा आता था। दूर जाना न पड़ा। भवनके पश्चिम द्वारके कलश-कँगूरोंके पीछे अमिताभ प्रसन्नविणीके तटपर उसने एक छाया देखी, निष्प्रभ सुकुमार छाया जिससे स्वरकी मंदिर वेला वैसे ही हवामे हल्की उठ रही थी जैसे प्रसन्नविणीके जलकी उन्मद वीचियाँ। दिमितका मन हल्के लहराया। दूरकी सुधि आई, वक्षुके तटकी, केसरकी क्यारियोकी, थीबियाके मंदिराभ नयनोंकी और उस भूले विलासकी, जिसने कभी बाख्त्रीके नर-नारियोंको मोह लिया था। थीबियाके स्वरमें भी तब वह शक्ति थी। पर वह कभीकी बात थी और कभीकी बात तो सदा रहती नहीं। थीबिया भी दीमितके स्मृति-पटलसे जैसे मिट चली थी, पर याद आई उसकी। मधुर वाद्यके लहराते स्वर जब अन्तरमे पैठते हैं और कभीके आग्रहपर अबके सोये उल्लासको सहसा चौंकाकर उगा देते हैं तब सुननेवालेको कुछ हो जाया करता है। हो गया दिमितको भी कुछ। दिनको सूरजकी किरणोंमें दमकती तलवारें, मेघ-से गरजते रणमें वीरोंको हुकार, ग्रीक शक्ति और पौरुषके गर्व और गौरव सब खो गये। निरुपम आर्द्र मानव जैसे नग्न खड़ा हुआ, उस मदालस रागिनीके स्पर्शसे मदहोश।

दिमितने बरबस यादकी भूली हुई वह स्वर-लहरी जो अक्सर थीबियाकी ग्रीक वीणासे निकल-निकल वक्षुके आकाशमें पसरा करती थी। पर गायिका थीबिया न थी। उसके कुञ्चित लहराते कुन्तल हवासे उलझ रहे थे, जल वीचियोंकी अग्रभूमिमें, और गायिका घुटने टेके वीणा गोदमें धरे, तारोंको हल्के-हल्के छेड़ रही थी। उसकी कोमल रागिनीसे कहीं

अधिक सुकोमल उसकी भावमुद्रा थी, आर्द्र कोमलतर । और अधवर्णी आँखोंकी श्वेत आभाके नीचे, रतनारे निचले डोरोके ऊपर बीचकी श्यामता पलकोंके बोझिल भारसे कहीं रम गई थी । श्याम पुतलियाँ निश्चय उन्ही नयनोंकी थीं, पर निःसन्देह उनका दृष्टि-पथ ही दूर चला गया था, सामने खड़े दिमितसे दूर, दूर परे ।

दिमितने अनजाने दोनों हाथ बढ़ा दिये । बोला—“इतना दर्द कहाँ पाया, देवि ?”

स्वर बहता रहा । वीणा न रुकी । वेदनाका निर्झर अब भी प्रवहमान था ।

“सुना नहीं, देवि ?”

लहरियाँ न रुकी, वेदनाकी धार बहती गई । वेदनाकी धार थी वह जो उल्लासके स्वरसे कहीं अधिक तीव्र होती है । लयका विन्यास चाहे जितना भी कोमल क्यों न हो, पर घाव उसका उन तारोंसे कहीं तुकीला होता है, जिनसे वे सहसा निकल पड़ती है । दिमितका आहत मन उस नीरव रागिनीसे और भी द्रवित हो गया ।

“भारतका विजेता दिमित सामने खड़ा है, देवि, अनुनय-विनय लिये; अभियानका तिरस्कार करता । बोझिल मनको शान्त करो, बोलो—कौन हो तुम ?” रागिनी सहसा बन्द हो गई । दहकती चाँदनीमें चाँद-सा ही कान्तिमान मुख ऊपर उठा, आड़े चिबुककी लुनाई जैसे दिमितको मथ चली । अरुणाभ अधर हिले, उनके परस्पर भिन्न होनेसे दाँतोंकी विद्युत् रेखा तनिक चमकी, फिर होठोंके सम्पुट हो जानेसे वह आभा विलीन हो गई । सन्नाटा फिर छा गया । पर चिबुक वैसे ही अधरमें उठा था, जैसे किसीकी हथेलीकी उँगलियोंकी कामना करता । और दिमित वैसे ही दोनों हाथ बढ़ाये फिर बोला—

“तीन रातें चाँदनीका परिकर बाँधे प्रकोष्ठपर उतरी है, देवि, तीन रातें जैसे बिताई हैं वैसे गगा और वक्षुके बीच रहनेवाले किसी प्राणीने न

बिचार्ई होगी और यह तुम्हारा स्वरपुञ्ज जिस प्रकार अन्तरको मथता रहा है उसकी कथा मेरे कहनेकी नहीं, सुननेकी है। फिर बता दो न आज—कौन हो तुम, स्वरसाधिके, कौन हो भला तुम ?”

“कौन हूँ मैं ?—” चिबुक तनिक हिला, अरुणाभ अधर कपोलोंकी रक्तिम आभासे अरुणतर हो खुले और जैसे पुष्करिणीकी दो बीचियाँ एक दूसरेसे टकराती-लहराती-विलग हुई। बोली—“कौन हूँ मैं ?—अपने ही अन्तरसे पूछो न, गहरे देखो। जब गंगाकी गहराइयाँ वक्षुकी छिछली धारासे जीत गई तब भला थीबियाकी याद, तुम्हें कैसे आये ?”

प्रतिहत दिमित अनायास बोला—“थीबिया !” “हाँ थीबिया।” पुष्करिणीकी हल्की लहरोंने कुछ सुना जो दिमितने न सुन पड़नेवाले शब्दोंमें कहा। नारी कुछ बंकिम हुई और दिमितकी ओर अपनी शिलासे देखती बोली—“तुम्हारे अनुरागकी शपथ दिमित, हिमालय और हिन्दुकुशके परे चन्द्रभागा और सिन्धुके पार पामीरोंकी छायामें ग्रीकोंका जीवित अनुराग वह थीबिया आज भी डोलती है, बाख्त्रीके पौरुषकी एक मात्र कामना— थीबिया। पर अनुरागकी वह प्रतिमा मात्र रह गई है, चित्रित आकृतिकी रेखा मात्र। रग और रस आकृति और प्राणोंकी कायासे उठ गये हैं पर काया अभी बची है, डोलती है वह काया, यद्यपि निष्प्राण आशाकी एक लीक सँभाले, हिन्दुकुशके पार जाने वाली राहपर पलकें बिछाये। हिन्दुकुशकी राह दिमित सँदियोंमें बर्फानी तूफानके हिमसे ढँक जाती हैं पर पलकें गड़ी ही रहती हैं; और वह हिमके नीचेकी राहकी लीक जानती है कि एक दिन उसी राह कोई गया था जिसके चरण वक्षुकी रेतमें उतने ही गहरे गडते थे जितने गहरे उनकी स्मृतिके चिह्न थीबियाके भाव-पटलमे गड़े हैं। दिमित, पामीरोमे अब वसन्त नहीं आता। पराग फूलोकी पखडियोसे लाल-पीले होकर अब उपत्यकाके आँचलमें नहीं झरता, न वहाँकी क्यारियोंमें अब केसर ही फूलती है। ऋतुराज पामीरों पार हिन्दुकुश लाँघ आया है, दिमित, इधर—गंगाके इस आँचलमे—क्या लौटेगी नहीं ?”

“तो तुम थीबिया नहीं हो !” पिघलता अन्तर जैसे और पिघल चला !

“थीबियाको पहिचाननेकी भी अब इस हाहाकारके बीच आँखें न रहें; दिमित ? अब क्या वक्षुके तीरकी वसन्त-परम्परा वेदनावर्ती परम्परामे बदल गई ? नेत्र अपनी पलकोंको जिसकी राहमे उठाये रहते थे वे क्या तब उसे पहचान भी न पायेंगे ? मैं उसकी पार्श्ववर्तिनी क्रीता हूँ, राजन्, अभिराम, सुवासित मंदिराके चषक भरनेवाली विलासकी प्राणदायिनी । पर वह विलास जिसमे उसका अपना कोई स्थान नहीं । महीनों रहते आये हो, दिमित, इस नगरमे, शायद तुमने भी सुना होगा वह जो इस देशके रहने वाले अपनी पुरानी परम्परामे कहा करते हैं—कि हमारे देवताओंके राजा जो उसकी तरह ही इनके देवताओंका भी एक राजा है, इन्द्र उसकी एक प्रेयसी है सनातन किशोरी उर्वशी और उसका एक अपने हिये-का कभीका चुना प्रिय है जिसका नाम है चित्ररथ । बड़ा अभाग है वह चित्ररथ, दिमित, क्योंकि मात्र वह उसका सखा है, पार्श्ववर्ती, उसके प्रणय-उल्लासके निमित्त अपनी उस उर्वशीको सभी प्रकारसे प्रसाधित कर चुपचाप उसके भोगके निमित्त प्रस्तुत कर देनेवाला, स्वयं उस सखाका मात्र पार्श्ववर्ती, उसकी प्रियाका मात्र प्रसाधक—और मैं उसी चित्ररथकी नारी-कल्पना हूँ, क्रीता, थीबियाको प्रसाधितकर तुम्हारे निकट प्रस्तुत कर देने वाली, तुम्हारे निरालस मंदिर विलाससे दूर भी पार्श्ववर्तिनी । कितनी बार उस अपने प्रस्तुत प्रसाधित विलासके इष्टको देख वेदनाकी लहर अन्तरमें उठी है और बहकर रोम-रोमपर छा गई है, पर प्रसाधक तो भाव-वस्तुसे भिन्न है न, दिमित ? वह मरोचिकासे अतिरिक्त पदार्थकी आशा कैसे करे ?”

क्रीता जैसे साँस लेनेके लिए रुकी । दिमितपर भी जैसे सुनते-सुनते मोह छा गया था । वह तनिक चौका, बोला—“जाना, क्रीता, जाना—पर यह बात किसकी कह रही हो, भला ?”

“अपनी, दिमित, और यह बड़ी गलती है । सवाद लेकर आई हूँ,

दूरसे वेदनाका सवाद लिये आई और अपनी बात कहनेका अधिकार नहीं, पर वह तो आंचलके पीछे छिपाये ज्योति-लौकी बात थी, दिमित अब संवाद सुनो—“थीबियाकी करुण पुकार आज वक्षुके कान्तरोंको भर रही है, उसका तरुण विन्यस्त जीवन लताकी टहनीसे बंध डोल रहा है। युक्तेतिदके विलासका तूफान आग-पानी लिये उसको घेर चला है और अगर तुम न लौटे तो तुम्हारा वह चिर-संचित, चिर-कल्पित, चिर-क्रीडित विलास स्वप्न हो जायगा। चली मैं अब, तुम्हारी राहके काँटे फूल हों। विदा !” और क्रीता भारतीय वेशके अपने अधोवस्त्र सम्हालती, चाँदनीका परिकर बाँधे, हवामें उछलते कुंचित केशोंको संभालती, वीणापर स्तनोंका भार डाले चली गई। दिमित मन्त्रमुग्ध-सा चीख कुछ काल पेड़ोंकी छायामें क्रीताकी छायाको विलीन होते देखता रहा, देखता रहा।

दूसरे दिन पाटलिपुत्रसे ग्रीक सेनाकी कूचका डका बजा और दिमित उसे लिये नगरकी प्राचीरोंसे बाहर निकल गया। पर बाखत्रीकी राह लम्बी थी और उस राहके काँटे फूल न बन सके। युक्तेतिद-सा भयकर दस्यु पामीरोंसे उतर हिन्दुकुशकी आड़में खड़ा था, एक ओर दूर दिमित था, दूसरी ओर पीछे, परे, दूर वक्षुके तीर वसन्तकी बिसारी केसरकी सूनी क्यारियोंमें पतझड़के बीच सूखी लता-सी प्रत्यंग बिखरे थीबिया।

मगधके महलोंमें

एक दिन था जब सम्राटोंने महल बनाये, महलोंने सम्राट् । बात अनोखी है, पर है सच्ची । चेतन मानव जब जड़को आत्मसमर्पण कर बैठता है तब जड़ भी चेतनपर हावी हो उसे बनाता-बिगाड़ता है, बनाता कम है बिगाड़ता अधिक है । मदिरा और पाँसेकी शक्ति जीवन और इतिहास दोनोंकी जानी है, दोनोंकी परखी । महलोंकी प्रेरणा और शक्ति उनसे घटकर न रही ।

महलोंने राजसत्ता दी और छीन ली, सम्राट् बनाये और बिगाड़े । राजा जब-जब प्रमाद और प्रमदाके वशी हुए तब-तब उन्होंने महलोकी ओर देखा, रनिवासों, हरमोंकी ओर, तब महल संज्ञाहीन राजाको षड्यन्त्रोंके झूलेमें झुलाने लगे । रोमन सम्राटोंका यही हाल हुआ, चीनी सम्राटोंका भी, तुर्क-सुल्तानोंका भी । हरमोंके प्रति आत्मसमर्पण कर देने-पर, सुरा और सुन्दरीको माथा टेकनेपर, महलोंमें षड्यन्त्रोंका ताँता लगा और सर्वत्र कठपुतली राजाओंकी परम्परा खड़ी हो गई ।

इसी प्रकार मौर्योंका अन्त हुआ, इसी प्रकार शुंगोंका हुआ । चन्द्रगुप्त मौर्यने चाणक्यकी छायामें जिस साम्राज्यका विस्तार किया, उसे अशोकने स्नेहसे पाला, उसे ही बृहद्रथने अपने अन्तःपुरके विलास-यज्ञमें होम कर दिया । शुङ्गोंका प्रताप फिर तपा । पुष्यमित्र और उसके पोते वसुमित्रने ग्रीक-यवनोंको सिन्धुनदके पार भगा दिया, पर उन्हीके वंशधर देवभूतिने सकटसे पाई, शक्ति और संघर्षसे रक्षित धराको असंयत कामकी लोलुपतासे खो दिया । कहानी यह उसी सर्वनागकी है ।

कहानी आजसे दो हजार साल पहलेकी है, जब शुङ्गोंका सूर्य मगधमें तपकर अन्तःचलगायी हो चला था । पजाब-उद्यानमें यवन-पल्लव प्रबल

थे, हिन्दुकुशके शिखरोंसे कबकी भारतीय छाया हट चुकी थी। अब उनके स्वामी बाह्यीके यवन थे, ईरानके पल्लव।

और शुङ्ग सिन्धु-पंजाबसे हट आये थे। मगध और मध्यदेश ही अब उनके शासनमें बच रहे थे। सम्भवतः वग और मध्यभारतके कुछ भाग भी। शुग-वंश अपने शासनकी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। टिमटिमाती लौपर देवभूतिने कामके उन्चासो मरुत् फूँक दिये।

देवभूति था, जाह्नवी थी, वसुदेव था, मदनिका थी। देवभूति मगधका सम्राट् था, वसुदेव उसका मन्त्री। जाह्नवी उसकी रानी थी, मदनिका उसकी दासी, दासीकी पुत्री। जाह्नवी रानियोंमें सबसे छोटी थी, मदनकी रति-सी रूपसी, माया-सी मोहिनी, मदिरा-सी मदिर। जाह्नवी देवभूतिके जीवनमें तब आई जब उसका पौरुष जागकर सो चला था, जब कायासे अधिक उसकी छायाकी कामना थी, जब कुसुमसे अधिक उसकी सुरभिकी माँग थी, मद्यसे अधिक उसकी मादकताकी। जाह्नवीने देवभूतिको सो सब दिया।

मदनिका देवभूतिकी काम-परिधिमें कभी समा चुकी थी, जब राजा अभी कर्मठ था। तब मदनिका अभी आयुकी कच्ची थी, आमकी मजरी जिसमें मकरन्द अभी बँध न पाया था, सुकुमार प्रवाल, कोमल किसलय, कनैलकी कोरक जो वृन्तसे अभी फूट भी न पायी थी। देवभूतिकी शत्रु थी मदनिका, कारण-शत्रु।

वसुदेव देवभूतिका मंत्री था, नीतिका पण्डित, रनिवासका, उपेक्षित रानियोंका सखा, मगधकी लक्ष्मीका उपासक। महत्त्वाकांक्षा उसका परिकर बाँध चुकी थी, बक-सा ध्यान लगाये वह देवभूतिको ताक रहा था, काग-सी चेष्टा उसकी सजग थी। मदनिकाको उसने साधा। उसका सर्पिल पाश लिये देवभूतिके कण्ठमें उम्मे यमवत् फेंकनेको वह आतुर हो उठा। चोट

खाई नागिन-सी, मदनिका संहारक उछालके लिए कुण्डली छोड़, फन ज़्रठा, वसुदेवके करमे काल-सी नाचने लगी ।

देवभूति आपानक करता, जाह्नवीके रागको सभी प्रकारसे गहरा करनेके साधन जुटाता, पर उससे रानी उसकी ओर खिच न पाती । राग तन्द्रा लाता है, तन्द्रा बाहुओंकी दोला ढूँढती है । राजाके पास जाह्नवीके लिए राग था, तन्द्रा थी, पर बाहुओंकी दोला न थी । उसके बदले वह रागको और गाढ़ा करता, तन्द्रा उससे और अँगड़ाइयाँ लेती, पर उसका आलोडन न हो पाता । राजा लाचार था, रानी उस लाचारीकी शिकार थी ।

राजा अनुनय करता, रानी खीझती । राजा साम्राज्यकी समस्याएँ, उसके वैभव, उसकी शक्ति रानीके सामने रखता, रानी तीनोसे परे थी, उदासीन । पर राजाकी मर्यादाका उसे ध्यान था, उसने उसकी मर्यादामें, उसकी शानमें किसी प्रकारका बट्टा नहीं आने दिया । पतिव्रताओंकी भाँति वह राजाकी बाट जोहती और जब-जब राजा आता तब-तब वह अपने सौजन्यसे अपनी घनी सवेदना उसे देती, पर स्वयं अपनी वेदना वह छिपा न पाती । राजा वह वेदना जानता था । उसके लिए उसका विशेष आदर भी करता पर आदरसे वेदनाकी दवा तो न हो पाती, अनेक बार और उभर जाती ।

पर चारा ही क्या था । रनिवासका रवैया ही यही रहा था सदासे । सदासे अन्तःपुरमें एक राजा साधका उद्यान लगाता आया था । लावण्यकी एकसे एक पौध वह उद्यानमें लगाता, फूलोंको एक-एक कर वह लोढ़ता, पर समर्थसे समर्थ, कुशलसे कुशल माली भी भला समूचे उद्यानको अकेला कैसे देख सकता है ? पौधोंसे अकुर होते हैं, कलियाँ फूटती हैं, लताएँ रेंगती हैं, वृक्षोंपर पोर-पोर पत्ती-पत्ती छा जाती हैं । उद्यान जगलका रूप धारण करता है, जीवन लहराकर हजार धाराओंसे बह चलता है । क्या करे माली ?

क्या करता राजा ? उसे जो पता होता कि रनिवासको भरना आसान है पर उसका पालन कठिन है तो शायद वह चयनसे ही विमुख हो गया होता । पर अब तो वह लाचार था । जाह्नवी उसकी लाचारी समझती थी और अपने मनको जतनसे मना रखती थी । रानियोंके राग-रजनके अनेक साधन थे, उन साधनोंकी सम्हाल दासियाँ करतीं, क्लीब करते, कंचुकी करते । कुछ भी ऐसा न था जो उन्हें उपलब्ध न हो सके, पर जाह्नवी उस रनिवासके रवैयेमें अपवाद थी । उसने किसी दासीको अपनी आवश्यकताके लिए मुँह न लगाया, किसी क्लीबसे मनकी व्यथा न कही, किसी कंचुकीकी सहायता न चाही ।

पर वसुदेव उसकी पीड़ा जानता था, मदनिका भी जानती थी उसकी वह पीड़ा । पर दोनों उससे उदासीन थे । स्वार्थ और इष्टके समर्थ साधकोंो भवकी बाधाएँ नहीं खलतीं । दोनों अपने-अपने इष्टके सम्पादनमें लगे । वसुदेवको मगधका साम्राज्य चाहिए था, मदनिकाको अपने नारीत्वके अपमानका बदला । दोनोंका साध्य समान था—देवभूतिका निधन । दोनों समानधर्मा हुए ।

दोनों एक दूसरेका इष्ट जानते थे, दोनों समान इष्टके सम्पादनके लिए कटिबद्ध हुए । पर जब पुरुष और स्त्री किसी कारण मित्र बनते हैं तब उनमें मात्र मैत्रीका सम्बन्ध नहीं होता, उनमें परस्पर पिण्डका भी प्रवेश होता है, मन और शरीर दोनों तब एक-दूसरेसे अपना भाग माँगते हैं । वसुदेव और मदनिकाकी मांसल सत्ता भी तब मात्र मैत्रीकी परिधि लाँघ गई । दोनोंने परस्पर मानसका परिवर्तन कर लिया । दोनोंके तन व्यवहारतः एक होकर भी उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे जब वसुदेव राजा हो और मदनिका रानी । उसके लिए देवभूतिका मार्गसे हट जाना आवश्यक था ।

वसुदेवने मंत्र दिया, मदनिकाने उसे साधा । शिशिरका जब अवसान

हुआ, वसन्त जब जागा, आमकी मंजरियाँ जब अपने कोशमें मकरन्द बाँधने लगीं, कोकिल तब उसके स्वादसे अफर रवने लगा। और तभी वसन्तोत्सव-के अवसरपर जाह्नवीने काम-पूजाका आयोजन किया।

नये किसलयों, अर्धस्फुट कोरकोसे उसने अपने प्रासादके अलिन्द सजाये, द्वारके मकर-तोरण। शयनागारकी दीवारें चित्रोंसे लिख गयी। शय्या समूचे फूलोंसे, कोमल गजरो-मालाओंसे सज गयीं, 'कक्ष परागकी सुरभिसे गमक उठा। कुसुमोंके बाससे बसी मदिरा नासिकाके रन्ध्रोंको छेड़ने लगी। धूप-अगुरु-केसरसे वायु बोझिल हो उठा। जाह्नवीका शयनागार इस प्रकार सज जानेपर वह स्वयं भी सज चली।

सौन्दर्यके धनीको प्रसाधनकी आवश्यकता नहीं होती, पर प्रसाधन सौन्दर्यको उमगा देता है। जाह्नवीकी रूपराशि अप्रतिम थी, शृंगारने मणिका संस्कार कर दिया, मणि चमक उठी।

आधी रात दमकती ज्योत्स्नामें शयनागारमें प्रवेश होता था। राजा एक ओरसे आता था, रानी दूसरी ओरसे। वसन्तका वह उत्सव अभिसारका रूप धारण करता था। रतिका अभिसार था वह, मदनके प्रति। शुक्ला-भिसारिका रानी श्वेत वसनोमें सजती, धवल मुक्ताओंके अलंकार धारण करती। समूचा उद्यान रिक्त होता। कंचुकी और क्लीब, दास और दासी दूर हट जाते। फिर एकान्तके छोरसे रानी निकलती और राजाकी शय्याकी ओर बढ़ती।

जाह्नवी अपने प्रासादसे निकली, कुसुम शय्याकी ओर अभिसारिका बन चली। पर जैसे ही वह माधवी कुञ्जकी ओरसे निकली सहसा उसकी साँस बन्द हो गई। उसे लगा कुछ हो गया, पर क्या हो गया, उसने न जाना, न किसीने जाना। धरा उसे जैसे निगल गई।

क्षण भर बाद अभिसारिकाके परिधान पहने जाह्नवीका रूप बनाये मदनिका स्वामीके शयनागारमें पहुँची। शय्याके समीप राजा खड़ा उत्सुक

राह देख रहा था । जाह्नवीको प्रवेश करते देख वह ससंभ्रम उसकी ओर बढ़ा, उसे छातीसे लगा लिया । क्षण भर बाद ही उसका निर्जीव शरीर शय्यापर लुढ़क गया । मदनिकाने हाथका शख फूँक दिया ।

सहसा अनेकों शख बज उठे । सेना स्कन्धावारोसे निकल आयी । सभागृहमें सिंहासनपर वसुदेव विराजमान था । मन्त्री-सभासद् यथास्थान खड़े थे, पुरोहित राजतिलक कर रहा था । यह शृंगोंकी राजलक्ष्मीका निशीथकी वेला, कण्व वसुदेवके प्रति अभिसार था ।

बिहिश्तका महल

हिन्दू-पार्थव राजाओं ने पहली सदी शुरू होते-होते पश्चिमी पंजाब पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। पार्थव और पल्लव एक ही थे—ईरानी; और यदि पूरे ईरानी न थे तो कम-से-कम ईरानी सम्राटों की प्रभुता वे मानते थे।

महात्मा ईसा हाल ही में मरे थे और उनकी सूली की खबर धीरे-धीरे उनके सन्देश के साथ देश-विदेश में फैल चली थी। वैसे ईसा का महत्व इजराइल से बाहर लोगों को कम मालूम था। जो जानते भी थे वे बस इतना कि नजरथका ईसा नाम का एक बड़ई पुराने देवताओं से बगावत कर नये साम्राज्य का ऐलान करने लगा था और उस साम्राज्य का सम्राट् शायद वह खुद अपने को समझता था। सम्राट् तो उन दिनों बस एक ओगुस्तस रोम का था और रोमनो ने समझा कि यह अस्तबल में जन्मा नाचीज खुद सम्राट् होना चाहता है। जब ईसा सूली पाने के लिए जुरसलम की गोल्गोथा पहाड़ी पर ले जाया जाने लगा तब रोमन सैनिकों ने उसे लाल चोगा पहनाया, उसके सिर पर काँटों का ताज रखा और 'इम्परेतर ! इम्परेतर !' (सम्राट्) कहकर उसकी मखौल उड़ाई। वह क्रूर मखौल कालान्तर में सही साबित हुई। बर्जिल और होरेस की काव्य-सम्पदा के धनी रोमन महलों के सम्राट् और 'अस्तबल के जन्मे' बड़ई में समर छिड़ गया। रोम का महल हार गया, वेथलहम का अस्तबल जीता।

पर यह जीत अनायास न हुई। उसके लिए बड़ी कुरबानियाँ करनी पड़ीं। ईसा के अनुयायी साधु उसका पैगाम ले सीरिया और अन्तियोक, एशिया माइनर और मकदूनिया, यूनान और मिस्र, साइप्रस और रोम चल

पडे । पर उनका पग-पग लहूसे लथ-पथ था फिर भी सिर हथेलीपर ले वे खतरे झेलते बढ़ चले; और वे पण्डित न थे, अधिकतर निरक्षर थे ।

इन्हीमे एक सन्त थामस था, ईसाके वारह चेलोंमे एक । उसे पूरबकी विरासत मिली, खासी खूंखार विरासत, क्योंकि उस पूरबमे बड़ी बेरहम खूनी जातियाँ बसती थीं । बद्दुओंके घेरेसे निकलते ही ईरानी कबीलाइयोंका साया मिला फिर शकोका, फिर यूनानियोंका । पर बढ़ चला साधु थामस पूर्वकी ओर, अकेला निरस्त्र, सहारेके लिए हाथका सोटा लिये, गुरुका सवाद पूर्वी दुनियाको सुनाने—नये साम्राज्यके आगमनका, प्रेमका, गरीबोंके साम्राज्यका प्रसार करने और यह साबित करने कि बिहिस्तका राज कंगालों-मजलूमोंका है जिसमें धनियोंका प्रवेश पाना उतना ही कठिन है जितना सुईके छेदसे ऊँटका निकल जाना ।

ईसाके सूलीपर चढ़े अभी १९ साल हुए थे जब विन्दफर्ण (गुदफर, गोनोर्फर्निस) पार्थव गद्दीपर बैठा । जब दो-तीन साल बाद सन्त थामस हिन्दुकुश लॉघ भारत पहुँचा तब विन्दफर्णका प्रताप तप रहा था । पूर्वी ईरानसे पश्चिमी पंजाब तक सारा भूखण्ड उसीके अधिकारमे था । उत्तर-पश्चिमके यूनानियों और शकोंका वह पूरे रूपसे वारिस था ।

एक दिन पश्चिमी पंजाबकी उसकी राजधानीमें इस नये साधुकी चर्चा छिड़ी । तबकी दुनियामें हिन्दुकुशके इस पार तपस्वी बहुत थे, जिनके लिए देखते-ही-देखते आगमे कूद जाना और जलकर मर जाना कुछ कठिन न था । ऐसे भी थे जिनके मुँहसे जब दार्शनिक वाग्धारा निकलने लगती तब देखते ही बनता । ऐसे भी तपस्वी थे, जिनका यश बड़ा था, विद्या बड़ी थी । पर यह जो नया साधु आया कुछ और ही किस्मका था । था तो वह औरों-जैसा ही, साधारण लोगों ही जैसा, पर क्रोधका जवाब वह प्रेमसे देता था, गालीका हँसीसे, और किसी हालके मरे और जी उठे खुदाके बेटेकी बात कहता था, उसके राजकी, बिहिस्तके राजकी, कंगालोंके राजकी ।

तभी, जब अपने देशमें सुपाश्व और वसुमित्र, अश्वघोष और नागार्जुन दर्शनकी गुत्थियोंमें गाँठ-पर-गाँठ देते जा रहे थे, जब चरक अपनी प्रयोग-शालामें चर्मरोगकी ओपधियाँ खोज रहा था, उत्तरमें हल्ला मचा कि लम्बी दाढ़ी और लम्बे केशोंवाला जो वह सन्त आया है उसके स्पर्श मात्रसे रोग भागता है, कन्नें दरक जाती हैं, मृतक जी उठते हैं। वह गजबका निर्भीक है, उसमें गजबका विश्वास है।

विन्दफर्णकी सभामें भी नये साधुके करतबोके बयान हुए। उसके अनेक दरबारियोंने साधुको बाज़ारमें प्रेम और कगालोके राजका ऐलान करते सुना था, कोढियोंके घाव बोते देखा था। राजाका मन भी साधुको देखनेको ललचा। तभी किसीने बताया कि साधु असुरोंके देशका है, बाबुलकी ओरका, मयका हमवतन। राजा तब महल बनवा रहा था, एक-से-एक बड़ा, एक-से-एक ऊँचा, एक-से-एक अभिराम। उसे लगा, वास्तुके आचार्य, पाण्डवोंका महल बनाकर प्रतिबिम्ब द्वारा दुर्योधनको द्रौपदीका हास्यास्पद बना देनेवाले मयके देशका यह असाधारण साधु, शिल्पमें भी निश्चय गति रखता होगा। उसने साधुको बड़े आदरसे बुला भेजा।

थामसके आनेपर राजाने उससे पूछा—“तुम्हारा उपदेश क्या है, साधु ?”

साधुने ईसाका सन्देश सुना दिया, स्नेहका, विहिश्तके राजका, कगालोके आनेवाले ऐश्वर्यका। विन्दफर्ण उसके तेजोमय परन्तु नरम, मधुर, निराडम्बर वाक्पद्धतिपर मुग्ध हो गया। उसके दरबारी साधुकी सादगी और दृढ़ विश्वाससे चकित हो गये।

विन्दफर्णने अन्तमें अपने मतलबकी बात पूछी—“सन्त, जिस देशके तुम रहनेवाले हो वहाँके शिल्पकी तो बड़ी श्लाघ्य कथा है।”

“सही, उसकी जो नई शैली है उसका मुक्काबला तो मयके सुन्दर-से-सुन्दर महल भी नहीं कर सकते, राजा।”

राजाने उसका निश्छल उत्तर सुन पूछा—“क्या तुम्हें भी उस शैलीका ज्ञान है, सन्त ?”

“अपने बारेमें कहना नामुनासिब है, पर सुनो—वहाँका सबसे बड़ा राजा मर गया। उसने अपना सारा हुनर अपने ग्यारहों शिष्योंमें बाँट दिया। उन ग्यारहोंमें-से भी कई मर गये। जो कुछ बच रहे हैं उनमें इमारती हुनरकी उस शैलीमें मेरी जगह पीछे न होगी।” साधुने सकुचाते-सकुचाते जवाब दिया।

“फिर मेरे इस प्रासाद-निर्माणके कार्यमें हाथ बैठाओ, साधु, आभार मानूँगा।” राजा बोला।

“सही, राजन्, वह मैं करूँगा। अपना कर्तव्य समझकर करूँगा। पर उसमें व्यय होगा, प्रचुर धन व्यय होगा।”

द्रव्यकी क्या कमी है, सन्त ! जितना चाहो ले लो। साम्राज्यके कोष सुवर्ण और रत्नोंसे भरे हैं। सब तुम्हारे इशारे मात्रसे खुल जायेंगे। हुक्म दो और हमारे खज्नांची सब कुछ हाजिर कर देगे।”

राजाने अपने क्रौलके मुलाबिक खज्नाचियोंको हुक्म भी दे दिया। साम्राज्यके कोष-कपाट खुल गये, धन जाने लगा, तिजोरियाँ खाली हो गईं पर कमी किस बातकी थी ! राज-कर दूर-दूरसे आता था, सौदागर-व्यवसायी अपने लाभका राजभाग धारासार राजकोषमें बरसाते थे। तिजोरियाँ फिर भर गईं, फिर खाली हो गईं, फिर भरीं। इस प्रकार राजकोषसे सन्तने अनन्त धन लिया।

सालभर बीत गया। तब राजा एक दिन साधुसे मिला। साधुने उसे बताया—“काम हो रहा है, इमारतके लिए सामान इकट्ठा हो रहा है। दूर-नजदीकसे अचरजके रतन मुहैया किये जा रहे हैं। चिन्ता न करो, राजन्, महल जल्दी ही तैयार हो जायगा।”

“चिन्ता क्या हो सकती है भला, तुम्हारे रहते, साधु !” कहकर राजा चला गया ।

सालभर बाद राजा फिर साधुसे मिला । तब साधुने कहा—“सामग्री सारी प्रस्तुत है । नीव खुद चुकी है । राजमिस्त्री कार्यमें व्यस्त है । चिन्ता न करो राजन् ।”

“चिन्ता कैसी, सन्त, भला तुम्हारे रहते !” राजाने कहा और पूर्ववत् चुपचाप चला गया ।

तीसरे साल जब राजा अपना महल देखने गया तब सन्तने कहा—काम जोरोंसे लगा है । अगले साल जब तुम इसे देखने आओगे तब देखोगे कि इसके कलस-कंगूरे बिहिश्त चूम रहे हैं, कि उसपर खुदाका साया है । चिन्ता न करो ।”

“चिन्ता किस बात की, साधु, तुम्हारे रहते !” कहता सन्तुष्ट राजा विन्दफर्ण फिर चला गया ।

अगले वर्ष महीने-महीने सन्त राजाको महलके बननेकी कैफ़ियत देने लगा । आधारके ऊपर दीवारें शिलापर किलेकी तरह मजबूत खड़ी हैं, दीवारोंपर अचरजकी छत टिकी है, उसपर दूसरी मजिल है मजिलपर मंजिल, सात मजिल । चारों कोनोंपर दूर चमकते कलश आँखोंको चका-चौंध करनेकी जगह शीतलता प्रदान करते हैं । आओ, राजन् काल और देशकी सीमाओंसे रहित इस अक्षय अट्टालिकामें निवास करो । इसकी खिड़कियाँ खुली हैं, द्वार खुले हैं, पर चोर तो क्या इसमें जमकी साँसका भी प्रवेश नहीं हो सकता । आओ, अपना सर्वस्व छोड़कर, लुटाकर आओ । यहाँ उन लुटाई चीजोंका अनन्तगुना सचय है ।”—उसने राजाको कहलाया ।

“पर अकेले मत आना । अपनी रानियों, बेटों, सम्बन्धियोंके साथ आओ, दरबारियों-परिजनोंके साथ, सेनाओं-अधिकारियोंके साथ, रियाया-

सामन्तोके साथ, जिससे वे सब तुम्हारा नये महलमें प्रवेश देख सकें; और अपने उन शिल्पियोंके साथ आओ जो अब तक तुम्हारे महल बनाते रहे हैं, जिससे वे देख लें कि शिल्पके इस नये अनुशासनसे प्रस्तुत तुम्हारा यह नया महल कैसा है—इसकी आधारशिला, दीवारें, छतें, कलस-कंगूरे, वज्रलेप, अजेय परकोटे ।” उसने फिर कहलाया ।

राजा आया । वह अकेला न था । साधुको इच्छाके अनुसार उसने अपने साथ रानियों-बेटों-सम्बन्धियों-दरबारियों-परिजनों-सेनाओंको ले लिया, रियाया, सामन्तों और शिल्पियोंको । राजकोषकी सारी सम्पदा खुशीमे कगालोको बाँट वह सबके साथ साधुके सामने जा खड़ा हुआ ।

साधु प्रसन्नमन उसका इन्तजार कर रहा था । सबके आ जानेपर उसने राजासे पूछा—“देखा, राजा, तुमने अपना वह महल ?”

“नहीं, साधु,” राजा बोला ।

“तुम्हारे पुराने कृत्य तुम्हें उसे देख सकनेमे आड़े आ जाते हैं । यह राजसी लिबास उतार डालो, इसे पहनो, तब वह महल तुम्हें दिख जायगा ।”

उसने राजाको एक चोगा दिया और एक सोटा । राजाने राजसी लिबास उतार चोगा पहन लिया, सोटा हाथमे ले लिया । उसने पूछा—“कहाँ है मेरा वह महल, साधु ? मैं तो उसे अब भी नहीं देख पाता ।”

“मूर्ख हो राजा, जो अब भी तुम उसे न देख पाये । सुनो, तुम्हारा सारा धन कगालोंको बाँटकर मैंने अक्षय महल आनेवाले बिहिश्तमे बना दिया है । उसका द्वार सामने है । प्रवेश करो ।” और उसने सामनेकी अपनी कुटीकी ओर हाथ उठा दिया ।

राजाने पहले तो उसे पागल समझा, पर जब साधुने ईसाके उपदेश उसे सुनाने शुरू किये, तब वह चेता । अपने नये कपड़ोंको देख उसके क्रोधकी सीमा न रही । उसने साधुको क्रैद कर लेनेका हुक्म दिया । साधु

जेलमें बन्द कर दिया गया । पर जनतापर उसका अब तक काफ़ी असर पड़ चुका था ।

जैसे-जैसे कगाल उसके उपदेश सुनते वैसे-वैसे उन्हें शक्ति मिलती और एक दिन उन्होंने कारा तोड़ साधुको छोड़ा लिया । तब तक मध्य एशियाके कुषाणोंकी लहर पास आ पहुँची थी । विन्दफर्णका साम्राज्य उसमें डूब चुका था । साधु उन नई बर्बर सेनाओंको भी वही प्रेमका सन्देश सुना रहा था, जो उसने विन्दफर्णको सुनाया था, कगालों-मजलूमोंके नये साम्राज्यका सन्देश ।

जब रोमन महिलाओं ने भारतीय व्यापारकी रत्ना की

ईसा पूर्व पहली सदीका रोम रोमन इतिहासमें अपना सानी नहीं रखता। उस नगरने तब भूमण्डलपर अद्वितीय साम्राज्य स्थापित किया था। पाम्पे, ग्राचस, जूलियस, अन्तोनीने गजबके सिपाहियाना तेवर दिखाये थे। इंग्लैंडसे पार्थिया तक, उत्तरी जर्मनीसे नील नदके उद्गम तक सारी पृथ्वी रोमके अधिकारमें थी; सिनेटका बोलबाला था, उसमें जगत् प्रसिद्ध सिसेरो दहाडता था, विजेताओंको यथास्थान रख देता था।

रोमन जेनरल लौटते, एक-एकप्रान्तका स्वामी बन अलभ्य ऐश्वर्य भोगते। सैनिक लौटकर गाँवोंमें अमित मात्रामे भूमिके स्वामी बनते, जीवनका मान बढ़ जाता। कुछ दिन और बीते, रोम अपनी शक्ति और वैभवकी मूर्धापर जा चढ़ा। गणतंत्रका रहा सहा रूप भी खत्म कर दिया गया, साम्राज्यका स्वामी जूलियसकी बहनका पोता ओगुस्तस सीज़र बना। शीघ्र उसने अपने प्रतापका साका चलाया। जैसे पिछले दिनोंमें भारतीय इतिहासमें गुप्तकाल स्वर्णयुग माना गया, एलिजाबेथका युग इंग्लैंडके इतिहासमें स्तुत्य हुआ, रोमका वह युग भी ओगुस्तस-युगके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जब पार्थिव समृद्धिके साथ ही कला-साहित्यकी भी अभूतपूर्व उन्नति हुई, जब होरेस और वर्जिलने काव्य-कलाको अभिराम सजाया।

तभीकी बात है। भारत तब पच्छिमी व्यापारसे जितना ऋद्ध हुआ उतना कभी न हुआ, न पहले न पीछे। उत्तरापथ तो निश्चय लहूलुहान हो रहा था, शकोंकी चोटसे क्षतविक्षत, पर दक्षिणापथ व्यापारकी नीद जागता था। चीनसे अतलांतिक सागर तक सारे देश उसके करतलमें थे।

व्यापारसे धारासार धन देशके बन्दरोंमें वरसता था। मोती, गरम मसाले, और कपड़ोंके व्यापारने रोमका सोना अमित मात्रामे बटोरा।

रोमन सैनिक दक्षिणापथके राजाओंकी शरीर-रक्षक सेनामें भरती होने लगे, ग्रीक गुलाम सेठोंकी पालकी ढोने लगे, यवनियाँ रनिवासोंको अपने सौन्दर्यसे प्रदीप्त करने लगीं। धीरे-धीरे कुछ काल और बीता। अभिजात सैनिक साम्राज्यके दूरस्थ स्कन्धावारोंसे धनवान हो लौटे, रोमके नगरमें विलासमयी लक्ष्मी नाच उठी। रोमने अमरपुरी अलकाका रूप धारण किया। उसके राजमार्गकी अट्टालिकाएँ संगमरमरकी आभासे दमक उठीं, स्वयं राजमार्ग छैलोंके अट्टहाससे गूँजने लगे। अवकाशप्राप्त जेनरल कामुकोंका आचरण करने लगे। सडकोंपर उनके रक्षकोंके दलके दल उनकी प्रेयसियोंके लिए, कमनीय तरुणोंके लिए एक दूसरेका खून बहाने लगे। अवकाशका ऋद्ध जीवन व्यापारके लिए स्वर्ण अवसर प्रदान करता है, भारतीय व्यापारियोंके भाग्यद्वार खुल गये।

उनकी आदतें पहलेसे ही खुली थी। उनमें अधिकसे अधिक भावके गरम मसाले, महार्ह मोती और रतन, 'मकड़ीके जाले' से महीन वस्त्र भरे थे। प्लिनीने रोममें भारतीय वस्तुओंके विरोधमें देशप्रेमके नामपर आन्दोलनपर आन्दोलन चलाये, पर उनमें रति न तो रोमके छैलोंकी कम हुई, न महिलाओंकी। मकड़ीके जालों-से वस्त्र पहिने भी नगी रहने-वाली महिलाओंकी बेशर्मीका उल्लेख हुआ, उनके सीमन्तकी मुक्तावलियों, जूतियों, दामनोंपर टँकी मोतियोंकी लड़ियोंपर स्वदेशी आन्दोलनके नेताओंने सकारण रोष किया, गरम मसालोंकी कीमतकी ओर सकेतकर लोगोंकी तृष्णापर लानत भेजी। पर उनकी खरीदारी बन्द न हुई। न छैलोने अपने मोती और फ़िरोजे छोड़े, न महिलाओंने अपने झीने वसन और मुक्ता त्यागे, न रसोईके मादक मसालोंकी गमक रुकी।

सिनेटने कीमतें बढ़ा दीं, दुगुनी-चौगुनी कर दीं, भारतीय वस्तुओंपर दो-दो सौ फ़्रीसदी कर लगा दिये, पर उनकी माँग न रुकी, न रुकी।

रोमके छैलोंने, रूपनिधान मडनप्रिय महिलाओंने, स्वादु भोजनके शौकीनों-ने हचिमे व्यभिचार न होने दिया, भारतका व्यापार बचा लिया। सिसेरो कबका खूनका शिकार हो चुका था, प्लिनीका इतिहास रोक मूक हो चुका था, पर भारतीय मोतीका आब रोमके बाजारोंमें लोगोंकी आँखोंपर चढ़ा रहा, महीन वस्त्र सुडौल अगोंपर वायुकी भाँति लहराते रहे, मसालोंकी गमक नथनोंके मार्ग प्राणोंको अभितृप्त करती रही। लोग चोरी-डक्केसे, जुए-ऋणसे प्रेयसियोंकी मार्गें पूरी करते ही रहे, श्रीमानोंके लाड़ले भारतीय व्यापारियोंके नाम अपने प्रासाद, गुलाम और नगर रहन करते ही रहे। सिलाकी चितामे गरम मसालोंकी दो सौ दस गाँठें झोंक दी गई, सम्राट् नीरोने पोपियाको दग्ध करते समय दालचीनी और तेजपातकी साल भरकी समूची उपज आगकी लपटोंको भेंट कर दी। मालाबारके बन्दरोंसे सामान भरा जहाज एक नित्य रोमके लिए छूटने लगा।

कल्लाके सगमरमरके प्रासादमें सभ्य-बर्बर ससारकी सभी अनीसी वस्तुएँ सजी थीं। रात सहस्रों प्रदीपोंके प्रकाशसे दिनकी आभा धारण कर रही थी। महिलाओंका मनोरम अन्तरंग महीन मलमलके पारदर्शक तन्तुओंसे साफ़ झलक रहा था, अभिरूप तरुण प्रेयसियोंके प्रसादन और आपानमे व्यस्त थे, सुहचिमण्डित दास-दासियाँ गमकते भोजनके विविध पात्र लिये भोजन परस रही थीं, धूप-अगुहका धुआँ वातावरणपर छा रहा था, मंदिर वायु मह मह कर रहा था।

तभी प्रधान दासने आवाज लगाई—“भारतीय पोतस्वामी धनसेठ पधार रहे हैं !”

धनसेठकी प्रतीक्षा महीनोंसे की जा रही थी। तबके ससारका सबसे बड़ा, सबसे मूल्यवान मोती ‘शुभ्रज्योति’ कुछ ही काल पूर्व ताम्रपर्णीके मुहानेसे पनडुब्बोंने जानकी बाजी लगाकर निकाला था। उसी मोतीको लेकर धनसेठ रोम आ रहा था। तूफ़ानमें पड़ जानेसे पहले तो जहाजके

डूब जानेका डर हुआ था, रोममें एक तहलका मच गया था, फिर हाल ही उसके बच निकलने और दो-एक दिनमे ही रोम पहुँचनेकी भी खबर मिली थी। रोमके कामुकोंकी तृष्णा जग उठी थी, उसी मात्रामे जिस मात्रामे विलासिनियोंकी अलंकार-लिप्सा। लोग उसे खरीदनेके लिए धन बटोरने लगे थे, प्रासाद गिरवी रखने लगे थे।

वही शुभ्रज्योति मोती लिये धनसेठ कल्लाके प्रासादमे आ पहुँचा। एक सिरेसे दूसरे सिरे तक लोगोंमे बिजली दौड़ गई। सभी सजग हो उठे। प्रेयसियोंने अपने प्रणयियोपर और सार्थक दृष्टि डाली, प्रणयियोने अपने बटुए सम्हाले।

खरीदारोंने धनसेठको घेर लिया। धनसेठने व्यापारीकी स्वाभाविक चपलतासे अत्वरित शिथिलतासे धीरे-धीरे नीलमकी डिबिया निकाली। उसमे मोतीका समूचा शरीर दीखता था। आँख उसपर टिकी रह गई। अलक्षित खरीदारोंने रोडे उछालने शुरू कर दिये। धीरे-धीरे जब बोली ऊँची हुई, मूल्य चढ़ चला, खरीदारोंकी सख्या भी छूट चली पर कल्ला और तीतस जमे रहे। कल्लाने तीतसकी अनुपम लावण्यवती पत्नी पात्री-शियाको मोती उपहारमे देनेका वचन दिया था, तीतसने कल्लाकी ग्रीक दासी क्रीताकी। बोली चल रही थी, बाज़ी धन-वैभवकी थी, प्रणयकी।

“दस हजार दीनार !” कल्लाने कहा !

“बीस हजार !” तीतस बोला।

“चालीस !”

“अस्सी !”

“एक लाख !” कल्ला खीझकर बोला।

“कार्थेज !” तीतसने उत्तरमे नगर अर्पण कर दिया।

“जेनोआ !” कल्लाकी आवाज़ ऊँची उठी।

“त्यूनिस, मीलान !” जेनरल तीतस गरजा।

“आतेलियर !” कल्लाने अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया। चारों ओर-से विस्मयकी लहर उठी। ‘आतेलियर’ कल्लाके प्रासादका नाम था। उसमे साम्राज्यकी कीमत सिमटकर आ गई थी। संसारके दर्शनीय कलादर्श, महार्हतम रत्न, अनन्त धन, जिसकी समता इटलीके सारे नगरोकी एकत्र सम्पदा भी नहीं कर सकती थी। ‘शुभ्रज्योति’ कल्लाका हुआ, ‘आतेलियर’ धनसेठका।

उसी रात जब कल्ला पात्रीशियाके साथ सोया हुआ था तोतसने उसकी पीठमे छुरा मारा। कल्लाके प्राणपखेरू उड़ गये। अन्धकारमें भी भूमिपर पड़ा शुभ्रज्योति चमकता रहा।



जब रोम भारतीय

काली मिर्चके मोल बिका

बात इतिहासकी है, सन् ४१० ईसवीकी । अब रोमकी वह हस्ती तो न थी पर सूरज उसका अब भी तप रहा था, यद्यपि सूरज वह मध्याह्नका न था, तीसरे पहरका था, ढलता सूरज । फिर भी ज्योतिष्मान् था वह और पृथ्वी और आकाशकी कोई अग्नि अभी उसके तेजकी बराबरी नहीं कर सकती थी ।

एक दिन था जब रोमका सम्राट् भारतीय महासागरमे अपने जहाजी बेड़े भेजता था, जब भारत और चीनके दूत-मंडल उसके दरबारमें उपस्थित होते थे, जब उसके साम्राज्यकी सीमाएँ अरब और चीनसे स्पेन और इंग्लैण्ड तक, कास्पियन सागर और जर्मनीसे नील नदके उद्गम तक फैली थीं, जब ससारकी सारी सड़कें अमरपुरी रोमको जाती थीं ।

अब बात निश्चय वह न थी । सम्राट् थियोदोसियास महान् पन्द्रह साल पहले ही अन्तिम निद्रामे सो चुका था, साम्राज्यकी चूलों आभिजात्योंके आन्तरिक संघर्ष, इन्द्रिय लालुपता और लूटकी तृष्णासे हिल चुकी थीं । चार सौ वर्ष पूर्व जिस विपद्की ओर गुलामोंके विद्रोहने संकेत किया था उसकी परिणति आँखोंके सामने घट चली थी । पूरबकी तातार जातियोने चीनके उत्तर-पच्छिमसे रेला बोला था, हूणोंकी तलवार और आगके सामने मध्य एशियाके राज्य उखड़े जा रहे थे । उनकी चोटसे दक्खिनी रूससे पूर्वी गाय भभरकर भागे, उनके सामने पच्छिमी गायोंकी लश्करें चली । गायोंकी चोटसे बण्डल उखड़ गये, हगरीसे उठकर वे दक्खिन बड़े, समृद्ध रोमन साम्राज्यपर वेगसे टूटे ।

वण्डल, गाथ और हूण । वण्डल- अपनी सहार नीतिसे यूरोपीय साहित्य और भाषाओंमें अपने नामका पर्याय छोड़ गये हैं, गाथोंकी शक्ति अनवरुद्ध थी, और हूणोंके सक्रमणकी क्रूर कथा उनकी राहके उजड़े गाँव और जले नगर कहते थे । तीनोंकी चोट प्रायः एक साथ रोम-पर पड़ी ।

रोमसे कभी वण्डलोंने शरण माँगी थी और रोमने उन्हें शरण दी थी । उन्हें उसने अपनी सरहदमें बसा लिया था, हंगरीमें, गाथोंने भी उससे शरण माँगी थी, उन्हें भी दी थी उसने पनाह और डैन्यूबके तटपर रुमै-नियाँ बलगेरियामे उन्हें भी बसा लिया था । साम्राज्य दो भागोंमें बँट चला था लातीनीभाषी पच्छिम और ग्रीकभाषी पूरबमें । पच्छिमी साम्राज्यका केन्द्र रोम था, पूरबीका बीजेन्तियम् जो ईसाई महान् रोमन सम्राट् कान्स्तोन्तीनके नामपर कुस्तुन्तुनियाकी नयी सजा धारण कर चला था । जब पच्छिमकी चोट अनिवार्य हो उठती साम्राज्य कुस्तुन्तुनियाकी ओर सरक जाता, जब पूरबका खतरा आकार धारण करता साम्राज्य रोमका आसरा करता । और उस विशाल साम्राज्यकी सन्धियाँ इस पूरब-पच्छिमके आवा-गमनसे ढीली हो गईं । कुछ अजब न था कि एक दिन सहसा चक्केकी धुरी टूट जाय ।

इटली और पानोनियाकी रोमन सेनाओंका सेनानी इस समय स्तिलिचो नामक वण्डल था, वालकन प्रायद्वीपकी रोमन सेनाओंका अलारिक नामका गाथ । थियोदोसियसके दो बेटे थे, आकीदियस और ओनोरियस, दोनों एक-से एक अगियाबैताल । दोनों साम्राज्यके लिए जूझ चले । अलारिकने पहलेका पक्ष कुस्तुन्तुनिyामें सँभाला, स्तिलिचोने दूसरेका रोममें । आभिजात्य दोनों ओर स्वार्थ और सुविधावश बँट गये ।

अलारिक और स्तिलिचो स्वयं साम्राज्यके लिए लड़ रहे थे । सघर्षकी भीषणता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी । अलारिककी क्रूरता दूर-दूरके

रोमन प्रान्तोंमें आतंकका संचार कर रही थी। रोमके नागरिक भयविह्वल कातर हृदयोसे सघर्षके परिणामकी ओर देख रहे थे। जानते थे कि 'बर्बर' दोनो है, अलारिक भी, स्तिलिचो भी। किसीकी विजयसे रोमका कल्याण नहीं। पर चारा ही क्या था? पोम्पे और जूलियसका शौर्य कबका सो चुका था। रोमके प्रान्त वण्डलों और गाथोंकी चापों चले कबके रौंदे जा चुके थे। स्वयं वह अमरपुरी अपने भाग्यकी रक्त भरी धुंधली रेखा पहचान रही थी। युद्ध दिन-दिन उत्तरसे दक्खिनकी ओर पूरव-पश्चिमसे रोमकी ओर बढ़ता आ रहा था। रोमकी समृद्धिके लिए वण्डल और गाथ जूझ रहे थे।

अलारिक जानता था, स्तिलिचो भी, रोमके वैभवका वैपुल्य। कितना सोना उसके आभिजात्योंकी तिजोरियोमें भरा था, कितना अतुल धन उसके नागरिकोंके कोठोमें ठसा था। रोमन जेनरलोंका विक्रम दिशाओसे सिमटकर नगर बाहरके उनके विलास-भवनोमें रम गया था। पर आज उस विलासकी वस्तु-वस्तुपर उसकी एक-एक शरमायी रौनकपर भावी विपद्की छाया डोल रही थी। अलारिक और स्तिलिचोंका भय व्याप रहा था।

सहसा वण्डलोंके भाग्यकी धुरी टूट गई। स्तिलिचोकी सेनाएँ तितर-बितर हो भागीं। गाथ लम्बार्दीके मैदानमें फैल गये। पो नदीकी प्रशस्त धारा भी उनके जलाये गाँवोंकी आग न बुझा सकी। रोमकी अट्टालिकाएँ लपटोंको कल्पनाकर अपनी घोर जड़ताके बावजूद काँप उठीं।

रोमके श्रीमान्, उसके सेनेटर और जेनरल, उसके सेठ-साहूकार मथ गये। आज सभ्य नागरिकोंसे पाला न था, आज बर्बरता अलारिक-सा वज्र उछालती रोमपर चढ़ी आ रही थी, और उसके सामनेकी भागती रोमन गाँवोंकी भीड़ रोमकी प्राचीरोंके सातों द्वार तोड़ चुकी थी। रोमके आकुल व्यसनी दक्खिनकी ओर भागे, सिसिली, कोर्सिका, सार्दीनियाकी ओर, समुन्दर पार कार्थेजकी ओर। कार्थेज अपनी झुलसी मीनारोसे रोमका भावी सकट मन ही मन आँक पुलक रहा था। रोमका वैभव कभी

उमका भी रहा था। उसके लाड़ले हैनिबलने कभी सागर लाँघ स्पेन जीता था, रोमपर कब्जा कर उसके मैदानोंमें लोहेसे लोहा बजाया था। पर उसके हारते ही रोमके जेनरलोंने, स्कीपियोंकी सेनाओंने कार्थेजका वैभव धूलमें मिला दिया था, उसकी अपार संपत्ति लूट ली थी, उसके प्रासादोंमें आग लगा दी थी, नहरोंके अनुपम शिल्प कुचल डाले थे। निःसन्देह कार्थेजकी आँखें रोमपर लगी थीं।

X

X

X

रोमपर चील मँडरा रहे थे। मरे हुआ और घायलोंकी सख्या सड़कोंपर बेइत्तहा थी। पर अभी तीन दिनोंके लिए अलारिककी आज्ञासे सहार-कार्य रुका हुआ था। रोम अपने जीवनके लमहे गिन रहा था।

दूरसे आये गाथ लूटकी आशा दबाये शहरके बाहर खेमोमें पड़े थे। रोमके अतुल वैभव, उसका अमित स्वर्ण, अभिराम वसन, अनुपम मोती उन्हें बरबस अपनी ओर खींच रहे थे। उसकी विलासिनियोंका सौन्दर्य जंगत् प्रसिद्ध था, गाथ-युवकोंके चित्त उनमें लगे थे। सालोंकी तृष्णा दबाये अमरपुरीके द्वार वे प्रतीक्षामें खड़े थे कि कब अलारिकका प्रतिबन्ध हटे, कब वे अपनी चिर-संचित साधे, निर्मम अरमान पूरे करे।

साम्राज्यके दूत अलारिककी सेवामें आ उपस्थित हुए। कहा—हमें कुछ भी अदेय नहीं, स्वर्ण, धन, अन्न, जो चाहो माँग लो, हम दे देंगे, पर रोमकी जिन्दगी बख्श दो। उसका संहार न करो।

अलारिकने सहारका हाथ रोक दिया। उसके मनमें कुछ उचक रहा था। किसीने न जाना, क्या ? पर सुलहकी बातचीत उसने करनी, स्वीकार कर ली। उसने कुछ माँगा भी रोमकी अमित संपदाके बदले, अमरपुरी के संख्यातीत नागरिकोंके प्राणोंके बदले। और उस माँगने सुननेवालोंको चकित कर दिया।

बीस साल पहले अलारिक एक बार डैन्यूबके तटपर रोमनोंका बन्दी हो गया था। जेनरलकी रसोईके पास ही वह बैधा पड़ा था। रसोईसे गरम मसालोंकी गमक उसके भूखे नथनोंको भर रही थी। रसोइयेने उसपर तरस खाकर, उसके जीवनपर काल मँडराता जान, उसे राजाओका वह अलभ्य आहार दे दिया था। और तभीसे वह भारतीय मसाला अलारिकके अरमानोंका इष्ट बन गया था।

रोमके श्रीमानोसे उसने माँगा—नगरकी रक्षाका मूल्य है १५०० सेर गोल मिर्च।

गोल मिर्चकी कीमत सुवर्णसे कही अधिक थी। सोनेके दीनार तिजोरियोंमें भरे पड़े थे, साम्राज्यके प्रान्तोसे आये रत्नोंकी बेशुमार दौलत खजानोंमें गँजी थी, पर भारतीय काली मिर्चकी कीमत असाधारण थी। फिर इतनी मात्रा उस अलभ्य पदार्थकी कहाँसे आये ?

पर जीवनका मोल सबसे ऊँचा होता है। श्रीमानोंने जन-जनकी रसोई छानी, सिनेटने नई घोषणाओसे मिर्च रखना प्राणदण्ड द्वारा दण्डनीय घोषित किया। नागरिकोंकी रसोइयोसे, दुकानोंसे, रोमके बन्दरमें खड़े जहाजोंसे वह भारतीय अलभ्य वस्तु इकट्ठी कर ली गई। १५०० सेर गोलमिर्च तुरन्त प्रस्तुत हो गई।

अलारिक और उसके सामन्त उस काली राशिको आँखे फाड़ फाड़ निहारते रहे। वह गाय सैनिकोंकी बलवती लूटकी तृष्णाका मूल्य थी, रोमके प्राणोंकी कीमत। अमरपुरीका सकट टल गया।



परमारका बन्धन और मोक्ष

बात करीब हजार साल पुरानी है। तब मालवामें, परमारोंका सूरज तपता था। परमार भी, प्रतीहारों चौहानोंकी ही भाँति अग्निकुलीन क्षत्रिय थे, जिन्होंने अन्यत्रसे आकर, हमारी धराको अपना पौष भेट किया था। मालवाकी वसुन्धरा परमारोंकी कीरतिसे उमंगी। सीयक-हर्ष, मुज, सिन्धुल, भोज, एक-एक कर उसके स्वामी हुए, एक-एकका वैभव मालवाके आकाशमें छाया, उसके यशका आलोक बना।

मालवाकी भूमि शस्य-श्यामला है, अन्नराशिप्रभवा; जिससे उसने प्राचीन कालसे ही जातियोंको अपनी ओर खींचा है। रावीके मालव, सुह्यके शक, गोरके पठान, सभी बारी-बारी उसे भोगते रहे हैं, सभीने उसके वनों-मैदानोका सुख जाना है। उसकी-सी साँझ कही नहीं होती, उसकी-सी स्निग्ध कहीं रजनी नहीं होती।

उसी मालवाके लिए, दक्षिणके राष्ट्रकूट और उत्तरके प्रतीहार, सदियों एक-दूसरेसे टकराते रहे थे—उसकी प्राचीना उज्जयिनीके लिए, उसकी मण्डपिका, धाराके लिए, और पश्चिमी जगत्से सागरकी राह आनेवाले उसके सौदागरी मालके लिए। इन्हीं रजवाड़ोंकी टकराती तलवारोंसे एक दिन एक चमक निकली, जिसने बादमें दिशाओंको अपनी चकाचौधसे भर दिया। वह चमक परमारोंकी थी—सीयक-हर्षकी, मुजकी, सिन्धुल और भोजकी।

कहानी मुज की है और यह बस कहानी ही नहीं है, इतिहास है, बेतवा-सिप्राकी धारा-सा निर्मल, विन्ध्यकी पर्वत-मेखला-सा व्यापक, अचल ! दसवीं सदीके बीच सीयक-हर्ष, अपने प्रभुओंकी सत्ता मालवासे

उखाड, देशका नायक बना और राष्ट्रकूटों-हूणोंसे मालव लक्ष्मी छीन, उसने उज्जयिनी, मांडू, धाराको एक कर लिया। मुंज उसीका पुत्र था, पितासे कही महान्, कही मतिमान्, कहीं सूरमा।

मुंज जब पिताकी गद्दीपर बैठा, तब मालवाके वन-प्रान्तर, उसके गिरि-गुहा, खेत-खलिहान, नये धनसे अघा रहे थे। प्राचीना उज्जयिनीकी छाया-मे मांडूके पर्वतोंके अचल महलोंसे भर गये, धाराकी धरा सरोवरोंसे सँवर उठी। मुजसागर आज भी धाराका विशद सरोवर है, जिसकी शीतल वायुने राजा भोजके महलोंको भरा था। मुंज स्वयं कवि था, अभिराम गायक, और दूर-दूरसे कवि और पण्डित सरक्षाके लिए उसके दरबारमे पधारे। भट्ट-हलायुध और पद्मगुप्त, धनिक और धनञ्जय अपने ज्ञानका सौरभ उज्जयिनी और धारामे लुटाने लगे।

उसी मुजकी कहानी है, उसके अन्तकी कहानी। चालुक्योंको परमारोंका मालवाकी स्वर्णभूमिपर यह उठता ऐश्वर्य सह्य न हुआ। उन्होंने उनकी उभरती शक्तिका परिचय न पाया था। वे मालवापर चढ आये। उसके खलिहानोंको अबतक वे लालसासे, दूरसे देखते रहे थे। अब वे उसके सीमान्तपर उन्हे लूटने लगे। मुजका इन्द्रासन डोला, उसकी तलवार म्यानसे निकल पड़ी। और एक बार जो वह म्यानसे बाहर निकली तो फिर उसमें लौटी नहीं, शत्रुओंपर आग बरसाती रही। चालुक्योंके धावे फिर तो अतीतकी कहानी बन गये। पर मुंजकी खड्ग-धारा फिर न रुकी, चालुक्योंकी ओर सालों-साल बहती ही रही। उनके राजा तैलप द्वितीयको उसने बार-बार हराया, बार-बार बन्दी किया। बन्दी कर-करके छोड़ दिया।

पर एक दिन, वह स्वयं तैलपके जालमे जाँ फँसा। रानियोंने मना किया, मन्त्रियोंने मना किया, मुज नहीं माना। उसने कहा—‘नित्य युद्ध ठाननेसे अच्छा है एक बार ही चालुक्योंके आधारको नष्ट कर देना।’ फिर तो चालुक्योंकी राजधानी वातापी उसकी आँखोंमें खटकने लगी और

श्रीवल्लभ मुंज तैलपके राज्यमे घँसता चला गया। इस बार उसका तैलपपर इतना क्रोध था कि उसे अपनी सेनाके पीछे छूट जानेकी भी सुधि न रही और वह वेगसे अपना घोड़ा बढाये अकेला आगे निकल गया। गोदावरीकी चौड़ी धारा सामने थी; सेना ठिठकी, मुंजने स्रोतमे घोड़ा डाल दिया और तैरकर गोदावरी पार हो गया।

गाँव-नगर लाँघता, मंजिल-पर-मंजिल लाँघता, मुंज जब वातापीसे कुछ ही दूर रह गया तब उसने जाना कि उसकी रसदकी राह कट गई, कि गाँव, जो अबतक निरीह जान पड़ते थे, सहसा संचल हो उठे हैं, कि राहके गाँवोंसे अन्नराशि गायब कर दी गई है। मुंजने सेनापतिकी ओर देखा सेनापतिने सचारककी ओर। दोनों निरुत्तर थे। मुंजने अब अपनी गलती समझी।

तभी तैलपकी सेना उमड़ती सामनेकी ओरसे आ पहुँची। मुंजने अपनी हरावल तैलपकी सेनापर झोंक दी। तैलपकी सेना पीछे हटी, हटती गई, मुंज उसके पीछे चला। तभी सहसा दाहिने बाजूपर हमला हुआ, मुंज दाहिने घुमा। उधर सामने भागनेका नाट्य करती, शत्रु-सेना लौटी और उसने मुंजके बायें बाजूपर चोट की। तभी मुंजके पीछे, सामने, दायें, बायें, चारो ओरसे हमला हुआ। न जाने कहाँसे, जमीन सेनाएँ उगलने लगी। मुंजकी हरावल टूट गई, उसकी सेना चूर-चूर हो गई। अब जो उसने अपनी बची टुकड़ी लिये तैलपकी सेनाके बीचसे निकल जानेका उपक्रम किया तो चालुक्य सेना यन्त्रकी भाँति सहसा फट गई, और मुंजके अन्तरालमें प्रवेश करते ही वह सिमट आई—जैसे पृथ्वी फटी और उसे अपने उदरमे ले पूर्ववत् बराबर हो गई। वाक्पति मुंज बँध गया। पौरुष असहाय, मूढ़ हो गया। शौर्य ताकता रह गया, कौशलके नागने, अपने हजार पाशोंसे उसके अग-अग निस्पन्द कर दिये।

वातापीके महलोंके पीछे, वेणुवनकी सीमापर, वह कारा थी, जिसमे

अमोघवर्ष वाक्पति मुज श्रीवल्लभ बन्दी था । बन्दी कभी वाक्पतिके विरुद्ध गाते थे, दक्षिणापथके राजा कभी उसके प्रसादके लिए अपनी मूँकुट-मालाओंकी मकरन्द उसके चरणोंपर बखेरते थे, आज वही मुज दूमरोका बन्दी था, किरीटहीन, अनुचरहीन ।

जब चालुक्यराज तैलप उसपर अपने व्यंग-वाण छोड़ने आता, तभी कारा एकान्त पदोंकी चापसे, वैतालिकोके आलोक-शब्दोंसे मुखरित होती । वह अकिंचन शत्रुकी मर्मको छेद देनेवाली बातें चुपचाप सुनता और चुप रह जाता । पिजरेका व्याघ्र जैसे पूँछसे मूँछ तक क्रोधसे हिल जाता, पर अचल चुप खड़ा रहता, बेसुध-सा ।

उसके भाग्यहीन एकान्तमें बस आशाकी एक ही क्षीण रेखा बची थी । वह रेखा भी कुछ अपने उद्योगका आलोक न थी, विधिकी आकस्मिक विडम्बना, जिसे अन्धकारगत राजाने अपना आलोक माना । आशाकी वह रेखा थी तैलपकी कन्या 'रेखा' । *

रेखा आपादमस्तक सौरभकी एक घूँट थी, रागकी मोदमयी शृङ्खला । जब वह मण्डन करती तब उसके रूपका जादू प्रसाधिकाओंको चकित कर देता । हाथोंमें तूलिका लिये, वे खड़ी रह जातीं । उनकी काँपती उँगलियाँ तूलिकाको अपदस्थ कर देतीं । स्थितिकी जानकार रेखा स्मित हाससे चमक उठती, ठमकी-ठगी प्रसाधिकाओंको अमृतवाणीसे आश्वस्त कर देती । और मण्डनके अन्तमें, जब वह दीर्घकाय अनिन्द्य दर्पणके सामने खड़ी होती तब जैसे दर्पण पर झाई दौड़ जाती । ऐसी थी वह रेखा ।

और वही रेखा मुजके मानसकी एकान्त स्वप्न थी । राज छूटा, रनि-वास छूटा, वैभव और विलास छूटे, पर रागकी एक रेखा रेखाकी ज्योतिसे चमक उठी । पहली सन्ध्या गोधूलिके धुँधलकेमें जब रेखा चुपचाप काराके द्वार खड़ी हुई थी तब मुजका अन्तर-बाहर प्रभापुंजसे भर उठा था । असत्यमें सत्यकी कल्पना साकार करने वाला कविराज मुंज तब जैसे यथार्थ

को भी स्वप्न मान बैठा था और उसके मोहका बन्धन तभी टूटा था जब रेखाने विकल वाणीसे कहा था—‘अवसादमे एकाकी नही हो, राजन्, मौनके तीरदको मुखर मानो’ ।

और तब चकित निस्पन्द राजाकी मोहविजड़ित काया यह जाननेके लिए झकझोर उठी कि सावधि सत्य है या भाव-जगत्का स्वप्न, और तभी वाणी फिर सुन पड़ी थी—

‘चालुक्यराजकी रेखा हूँ, राजन्, तैलपकी नन्दिनी, कन्या । स्वप्नको सत्य करने आई हूँ, देखो !’

और मुजने मस्तक उठा दिया था, कहा था—‘अभिराम कल्पने, स्वागत ! हाँ, आई याद । देखा था, देखा था तुम्हे, देवि, महलके उस जनसंकुल द्वारके अलिन्दपर, जब सारा महल मुझ पकड़े-जकड़े जन्तुको देखने दौड़ पड़ा था । देखा था, कोमल वर्तिकाकी स्निग्ध लौ-सी तुम सबसे अलग खड़ी थीं, सबसे निराली, भिन्न । पर, देवि, अब राजन् कह कर मेरा उपहास तो न करो !’

‘राजा अमित संज्ञा है, देव । मोक्ष और बन्धनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं । सूर्यके शालीन घामकी भाँति उसका स्पर्श सब पा सकते हैं पर उसे कोई पकड़ नहीं पाता, बाँध नहीं पाता । फिर भी निराश न हो, राजन्, जीवनकी घड़ियाँ अनन्त शेष हैं और अभी उज्जयिनी-यात्राका प्रबन्ध करके आई हूँ ।’ रेखाने वेगसे कहा था ।

फिर राजाकी सालस वाणी धीमी फूट पड़ी थी—‘नहीं, देवि, नहीं । वह लालसा अब तज चुका हूँ । उज्जयिनीकी राह अब विस्मृत हो चुकी है । जानता हूँ, मालवा भी अब अपने मुंजको भुला चुका है । अब इस कारासे कहीं जानेकी इच्छा नहीं, कुमारी !’

‘उज्जयिनी आज भी वातापीकी राहपर पलक बिछाये पड़ी है, राजन् ! मुंजका रनिवास विकल अपने आराध्यकी प्रतीक्षा कर रहा है ।’

आज भी मालवाके कवि और गायक पदके लालित्यको कंठमे रोके निस्पन्द खड़े हैं। जाओ, वाक्पतिराज, जाओ, अपने महलोंकी ओर ! अपनी मूक भारतीकी संरक्षित सम्पदाकी ओर जाओ ! द्वारकी ओर, उन घनी झाड़ियोंके पीछे, वेणुवनकी झुरमुटसे लगा तुम्हारा अश्व खड़ा है। देर होनेसे सकटकी सम्भावना है।'

'ना, देवि,' तब मुजने कह दिया था, 'अब मोक्षकी कामना नहीं। सिन्धुलका पुत्र भोज भारतीका अनन्य उपासक है, काव्यासक्त तरुण, अक्षय नादका विज्ञाता। 'भारतीकी संरक्षित सम्पदा'की ललित साधना अब वही करेगा। मेरे रेखांकित मर्मको अब कहीं अपनी परसकी परिधिसे दूर न भेजो, भगवति !'

और चुपचाप अपने स्निग्ध करको बोझिल मनसे रखाने, मुंजके मस्तकपर फेर दिया था। फिर सन्ध्याके गहराते झुटपुटेमे वह अपनी गति-हीन काया लिये चली गई थी। पुलक उसकी फिर लुप्त हो गई थी। रोमराजि प्रकृत सो गई थी।

पंजरपर अब अपना बस न रहा था। चन्द्रमाको देख जैसे सागर अन्तरसे आन्दोलित हो उठता है, जैसे उसकी वेलाएँ शशिकी कोमल मरीचियाँ चूमने उचक पड़ती हैं वैसे ही रेखाका क्रन्दित अन्तर मुजकी ओर रह-रहकर लपक जाता, वाणी बोलती-बोलती सहसा निस्पन्द हो रहती।

×

×

×

ऋतु-चक्र समाप्त हुआ। मुंजको सुधि तैलपको आई, जब उसने जाना कि कन्याकी ममता शत्रुके मर्मसे बँध गई है। अपने ही अन्तरगको इस प्रकार विद्रोह करते देख वह खिन्न गया। उसने सोचा था कि एक बार मालवराजको बन्दीकर फिर वह उसे न छोड़ेगा। उसने यहाँ तक सोचा था कि अगले वसन्तोत्सवसे वह मुंजको एक महल दे वहाँ कवियोंका दरबार किया करेगा। पर कन्याके इस आचरणने, मुंजके इस व्यापक

आकर्षणने, उसे क्षुब्ध कर दिया, और उसने उसके विनाशका निश्चय कर लिया ।

और एक दिन जब मदमाते गजोंके मस्तकसे मद चूर रहा था, अपने हथिसारसे तैलपने संहारक दिग्गज चुन लिया, कज्जलकूट पर्वत-सा विशाल गजराज । वातापीके महलोंके विस्तृत प्रागणमे, प्रजाकी दर्शन-भूमिके आगे, जहाँ बनैले जन्तुओके युद्ध राजपरिवार देखा करता था, वही तैलपके इशारेसे उसके महावतोंने उस गजराजको विच्छृङ्खल कर दिया ।

मुंज आँगनके छोरपर चुपचाप अग्रभावित निरावेग खड़ा था । महावतके अंकुशसे विधा गजराज आगे बढ़ा । बढ़ता चला गया । उसका सूँड़ वायुसे तरंगित गुंजलक भरता जा रहा था । मुज निश्चेष्ट निरवलिप्त खड़ा था, विमन, भावहीन ।

गजराज सहसा मुंजके सामने ठमक गया । अपनी छोटी आँखोंसे उसे निहारता जैसे गुनने-सा लगा । महावतने उसे अंकुश मारा, उसने मुजको सूँड़में लपेट, उठा लिया । जैसे अहिपुच्छ वृत्रकी गुंजलकमे कभी इन्द्र बँध गया था, जैसे कालियकी कुंडलीमे कृष्णकी काया कभी कस गई थी, वैसे ही गजराजकी सूँड़की सर्पिल गुंजलकमें भरा मुंज अधरमें लटका था । सहसा गजने मुंजको धरापर उतार दिया और गुंजलक भरता एक ओरको मुंजसे विरत-सा मुड़ गया । मुंज पूर्ववत् खड़ा था, मूक विरक्त ।

महावतने क्रोधमे भर राजाके कोपसे संतस्त गजको अंकुशकी चोटसे बेदम कर दिया । गजको उसने घुमाकर फिर मुंजके सामने कर दिया ! गज चोटसे व्याकुल बढ़ा और बढ़ता चला गया । मुजकी काया सहसा भूलुण्ठित हो गई । दर्शक जनतासे एक अमानवी चीख निकली । तैलपकी विकृत मुद्रा और भी विकृत हो उठी । तभी उसके पासके आसनसे कन्याकी काया नीचे लुढ़क पड़ी.....निःशब्द । रेखा फिर न उठी । .

दिहा

दहकते अंगारमें शबनमकी शीतल बूँद । लपकते शोलेमे बरफकी रवानी । सो ही थी दिहा, कश्मीरकी रानी ।

शालीनताका वैभव और रूपका सौरभ यदि किसीको एकत्र देखना हो तो वह कश्मीरकी घाटीमे ललितादित्य मुक्तापीडकी विजयोको अपने कृत्योंसे विस्मृत करा देनेवाली दिहाका चरित पढे । पूरबकी तीन प्रसिद्ध रानियोंमे उसकी गणना है । मिस्रकी शुजरुद्दरने क्रुसेडोंकी लड़ाईमे इंग्लैण्डके सिंह-हृदय रिचर्डको बन्दी कर लिया था, रजियाने पहली बार दिल्लीके तख्तपर नारी होकर अधिकार किया । और यह दिहा थी, दोनोंसे शक्ति और मेधामे महत्तर, दोनोंसे प्रायः दो सौ वर्ष पहलेकी । आधी सदी तक उसने दसवीं सदीमें, कश्मीरकी खुशनुमा घाटीपर अधिकारका शासन किया—पुंछसे जम्मू तक, दरदोके देशसे लद्दाख तक—पहले पतिकी स्वामिनीके रूपमे, फिर पुत्रोंकी अभिभाविकाके रूपमे, और अन्तमें स्वयं अपने अधिकारसे । कराकोरमसे पीर पंजाल तककी चोटियोंपर आज भी रानीकी सख्ती और तेजका साया है, आज भी सिन्धु और झेलमकी ऊर्मियोंमे उसकी भवोके बल हैं ।

शाहिय राजा भीमकी वह धेवती थी, बेटीकी बेटी, पुंछके लोहर-राजकी दुहिता । व्याही गई वह कश्मीरके राजा क्षेमगुप्तसे, जब डामरों और ब्राह्मणोके कोलाहलसे घाटी गूँज रही थी, जब उनके रक्तपातसे वितस्ताकी धारा लाल हो उठती थी । पर उसके अधिकार सँभालते ही डामर बरामुलाकी ढालोंमे उतर गये और ब्राह्मणोने शस्त्र रख खुवा सँभाली ।

शाहिय कभी काबुलके राजा थे । हिन्दुकुशकी चोटियोंसे उनके सतरी प्राचीन सप्तसिन्धुके हरे-भरे खेतोंकी रखवाली करते और ईरानके शाहों तथा आमूपारके बलखके तुर्कोंकी गतिविधि देखते । शाहियोंका इतिहास भारतीय संस्कृतिके भेदका इतिहास है । विदेशी किस प्रकार देशके सवर्ण नेता, क्षत्रिय-ब्राह्मण, बनते हैं, यह उस कुलके चरितसे प्रगट है । कभी उनके पूर्वजोंने शकोंके रूपसे दजला-फ़रातकी घाटीपर राज किया था, बाख़्त्रीपर भी, सीस्तान और भारतपर भी । राष्ट्रीय जागरणकी लहरमे गुप्तोंने शकोंको देशसे निकाल बाहर किया । शक-मुहण्ड तब काबुलकी घाटीमें, हिन्दुकुशकी ढालपर बस गये और सदियों भारतके सिंहद्वारकी उन्होंने रक्षा की, देशभरमें कृतघ्न देशी राजाओंकी शत्रुताका बदला उन्होंने देशकी द्वार-भूमिको अपने रक्तसे सींचकर दिया । एक बार वे ब्राह्मण हुए, दूसरी बार क्षत्रिय कहलाये, पर अपने कुलनाम 'शाहिय' मे उन्होंने प्राचीन कुषाणोंकी उपाधि 'शाहिशाहानुशाही' जीवित रखी ।

अभी भारतके आक्रान्ता गज़नीके महमूदके पिता और अलप्तगिनके गुलाम तुर्क सुबुक्तगिनका पता भी न था, स्वयं अलप्तगिनका भी पता न था जब शाहियोंका साका सिंधु और काबुलकी घाटियोंमें चलता था । चित्राल और यूसुफ़ज़ई, काफ़िरिस्तान और लमगान तब उन्हीं शाहियोंकी तलवारके साये थे ।

और तभी पुंछकी बेटी, शाहियोंकी नतिनी, दिहा एक दिन नाना भीमके काबुली कोटमें पहुँची । कितने ही निदाघ, कितने ही पावस उसने उस कोटमे बिताये थे पर अबकी सर्दियाँ थीं, काबुलकी सर्दियाँ, जहाँकी बरफ़ानी चोटियाँ सुमेरुके देवताओंकी पताका-सी लगतीं, जहाँसे लगता शाहियोंने अपनी कीर्तिकी नसेनी स्वर्गपर टिका दी है ।

दिहा किशोर और यौवनकी सन्धिपर थी । तन भर चला था । जवानीने पहली छलांग ली थी और भवोंमें कामने अपनी कमान खींच ली थी । मोहराग बोझिल पलकोंके नीचे कोयोंके श्वेत-श्यामकी सन्धिमे जा

बसा था। शाहिय तरुण शौर्यके धनी थे। प्रभातीकी लालीमें जब वे अपने पहाड़ी घोड़ोंपर चढ़, हाथोंमें भाले तौलते, कटिकी तलवार रिकावमें लटकते पैरके पजेसे उछालते, पीठपर तरकश बाँधे, कन्धेसे धनुष लटकाये सीस्तानके बियाबासे, बलखकी हरियाई क्यारियोंसे, पामीरोकी आड़से, आते शत्रुके रिसालोंपर टूटते तब दिद्दा अपने घोड़ेपर सवार, पेशानीपर बल डाले बागडोर बायें कन्धेमें टिकाये, सीनेपर बाजू बाँधे चुपचाप देखा करती और जब तक मुठभेड़का वारा-न्यारा न हो जाता, दमकी बाढसे उसके नथने फूलते रहते।

शौर्यके धनी शाहिय तरुणोंकी आन फिर भी उसे अपनी ओर खींच न पाई। उनके दल-के-दल उसके नेत्र-पथमें, उसकी दृष्टिकी परिधिमें बार-बार मँडराये, पर दिद्दाको वे एक आँख न भाये, उसके मनकी थाह न पाये। उनके स्वाभिमानी मस्तक झुके और फिर गये, उनके मन दिद्दाकी मेखलाका वृत्त परस-परस लौट गये, पर वह पुछकी बेटी न रीझी।

पर एक दिन स्वयं दिद्दाका हृदय अनजाने तीरसे बिध गया। जाड़ोंके दिन थे, नाना और शाहिय सरदार कोटके गरम कमरोमें जा बसे थे। सेनाओंने बर्फकी वर्षासे भाग कर पथरीले स्कन्धावारोंमें पनाह ली, तरुणोंके परिकर खुले। चारों ओर शान्ति थी, नीरव शान्ति, जब हाथ-हाथ भर ऊँची गिरती बर्फ भी आवाज़ नहीं करती और जब हवाकी सर्दों भी निर्घोष जम जाती थी। दिद्दाने तभी कोटके बाहर जानेकी ठानी। पाँच सवार उसके दाहिने थे, पाँच बायें, पाँच पीछे और दायें-बायेंके सैनिकोंसे कुछ आगे निकले भालेकी नोक-सी, अकेले ही हरावल बनाये स्वयं दिद्दा चली।

सहसा दूर मध्य एशियाके मैदानोंसे बह कर हड्डियोंको हिला देने वाली सर्द हवा चली। दाँत बजने लगे। घोड़ोंकी गति पहाड़ोंपर वैसे ही हल्की होती है अब और भी थम चली। सैनिकोंके कलेवरपर बँधे कम्बल

बर्फ़की सफ़ेदीसे धवल हो गये, उनके मस्तकके कुलह हिमसे मण्डित हुए और सहजवीर हृदय कुछ थमे । दिदाकी कटि महीन क्रीमती शालसे बँधी थी, गरम शलवारके ऊपर सुनहरी वास्कट कसी थी और दोनो बाजू-कन्धोंसे उतरती ऊनी पटकी छोरें काठीकी दिशामे दब गई थीं । सुनहरे कुलहके नीचेसे अलकें निकल हवामे डोलतीं कानोंपर बिखर जातीं ।

आजका दिन शिकारका था, रीछोंके शिकारका । पर दिन भयावना था, हिमकी मारसे पीडित सूरज भी जब भयसे कहीं बादलोमे छुप गया था । रीछके शिकार होते थे गजनीकी पहाड़ियोंमे, शोरके जगलोंमे, काबुलकी ऊँचाइयोंपर । पर ऐसे दिनमे नहीं जब इन्सान जो बाहर निकले तो फ़ना हो जाय । पर शिकार तो यह दिदाका था, अमरनाथ और गुलमर्गकी ऊँचाइयाँ लाँघने वाली पुछकी बेटी शाहिय भीमकी धेवती, कश्मीरकी भावी रानीका ।

रीछ कन्दराओंमे दुबके पड़े थे । उनकी माँदे स्वयं बर्फ़से मुँद गई थी । वे बाहर निकलें तो कैसे ? और जो निकलें भी तो शिकारीकी खैर नहीं ।

बर्फ़की बौछारें रुकीं, जब आँधीका वेग रुका, और सहसा दिदाके घोड़ेको एड़ लगी और वह आगे सरका । साथके सैनिक पीछे छूट गये थे, यह दिदाने तब जाना जब रीछ पाससे तिरछे होकर निकल गया और कुमारीकी नजर उधर फ़िरी । दिदाने लौटकर भालेका भरपूर हाथ रीछपर मारा, पर, अचानक कावा काट कर, रीछ वार बचा गया, जख्मी होनेसे बाल-बाल बच गया । अब वह लौटा । घोड़ा भड़का और उसने अलफ़ ली । दिदाने तलवार दाहिने हाथमें ले ली थी और वार्योंसे वह घोड़ेका अयाल पकड़े हुए उसकी गर्दनसे चिमट गई थी, पर रीछका धक्का जो अलफ़ लेते हुए घोड़ेपर पड़ा तो वह अपनेको सँभाल न सका, गिरा, और सामनेकी उतारपर लुढ़कता खड्डमे जा पहुँचा ।

दिदा गिरते घोड़ेसे कूद पड़ी थी पर वह अभी साँस भी न ले पाई

थी कि रीछ उसपर झपटा । तलवार उसके हाथमें थी, पर रीछकी चपेटमें वह अकस्मात् आ गई । उसकी तलवार टन्नसे टूट गई । दिहाकी जान पल भरमे लुट जाती, अगर रीछ एकाएक उलट न जाता । दिहाने जो नजर फेरी तो पास जंगली खसको खड़े पाया । खस खड़ा मुसकरा रहा था । उसकी पीठके ऊपर, कन्धोंके सहारे पीछे एक भारी रीछ मुरदा पड़ा हुआ था, जिसके घावोंसे लहू टपक रहा था । थके खसकी तरकश उसी बायीं बांहसे लटक रही थी जिसके कन्धेमे धनुष फंसा था और दाहिने हाथके भालेके—जो दिहाके रीछको बगलमे लगा था—न रहनेसे हाथ अब कटि पर आ गया था ।

घायल रीछ भालेके साथ जिस्मको सँभालता लड़खड़ाता उठा, पर दिहा उसकी पहुँचके अब बाहर थी, दोनोंके बीचमे खस आ गया था । इन्सान और रीछ जूझ चले । युद्ध मरणान्तक था । एककी मृत्युसे ही दूसरेकी रक्षा सम्भव थी । द्वन्द्व घना हो गया, दिहा चुपचाप देखती रही वैसे ही जैसे बादलोंका पट खोल सूरज भी वह युद्ध देख रहा था । दिहाने जो खसकी सहायताके लिए कटार निकाली तो खसने हाथ उठाकर उसे आघात करनेसे रोक दिया । फिर रीछको किनारे लगा वह दिहाके सामने घुटने टेक बैठा ।

×

×

×

युग बीत गये । खसको दिहा न भूल सकी । भीमकी वह धेवती लोहर पिताके पास पुंछ लौटी । पुंछसे कश्मीरराज क्षेमगुप्तकी प्रिया बन कर, श्रीनगरके रनिवासमें प्रधान महिषी बन कर, उसने प्रवेश किया, उसके पुत्र हुए पर भूल न सकी वह खसको । जब कराकोरमकी चोटियाँ बर्फसे ढक जातीं, झेलमके तटवर्ती खेतोंमें जब बर्फ बिछ जाती, डल-ऊलरकी झीलोंके कमल-वन जब हिमपातसे झुलस जाते, तब कन्धोंपर रीछ लादे स्वयं घायल खस उसकी रीछसे रक्षाके उपक्रम करता दिहाके मानस पटल-

पर उतर आता और दिद्दा बेसुध-सी उस तरुण खसके शक्तिसीब तनको अपनी भावदृष्टिमे भरे घंटों निहारा करती। उसे पता तक न था कि खस पुंछकी रियासतका नागरिक था, कश्मीरका, या शाहियोंके राज्यका। उसने केवल हिन्दुकुशकी पोली बर्फपर खड़े होकर बरसती बर्फके नीचे उसका नाम पूछा था और तरुण खसने उत्तरमे कह दिया था—‘तुंग’।

सो वह तुंग था, तुंग खस। पर उसने न जाना कि वह दिद्दा थी, शाहियोंकी नतिनी, लोहरोंकी बेटो और वह मनमे दिद्दाकी मूरत बिठाये चुपचाप जगलोंको चला गया था, किरातोंके बीच, वह तुंग खस।

एक दिन जब दिद्दा स्वामीके साथ श्रीनगरसे गिलगित जानेवाली राह-पर सेनाका निरीक्षण कर रही थी, अपना गुल्म (सेनाकी टुकड़ी) लिये तुंग खस सामनेसे निकला। आज पहले मिलनके बाद पहली बार उसने दिद्दाको देखा था। पर उसे गुमान भी न था कि दिद्दा उसकी रानी होगी और वह उसका नाम तक जबानपूर न ला सकेगा। चुपचाप अभिवादन कर वह सेनाके साथ मैदानसे निकल गया। उसने भी इन सालोंमे किस्मत और लड़ाइयोंके कितने ही मोर्चे देखे थे और अब वह दिद्दाकी सेनाके स्कन्धावारोंमे रहने लगा था।

स्वयं दिद्दाका पुराना घाव तुंगको देखकर उभर आया। निर्वात दीप-शिखा-सी तुंगकी मूरत उसके अन्तरमें बलती रही थी, अब सहसा पवनके सहारे जैसे वह भड़क उठी।

दिद्दाने एक बार सोचा, शक्ति लगाकर उस धागेको तोड़ दे जिसने उसकी उन्नत भावभूमिको अर्किचन और हेयके साथ जकड़ रखा है, पर क्या कभी ऐसे धागेको कोई तोड़ पाया? दिद्दा भी न तोड़ पाई उसे। दरदोंकी पीठपर उसकी सेनाओंकी चोट बनी थी, पंजाबके उत्तरी किले उसकी चपेटोंसे त्राहि-त्राहि करते थे, तिब्बतियोंकी अगणित टोलियाँ उसके सामनेसे सिर झुकाये उपायन सौंपती चली जाती थीं, कश्मीरके डामर-ब्राह्मण उसके कोपसे थर-थर काँपते थे, पर तुंग खसका अस्पृश्य आकार

नित्य उसके हृदयाकाशमे उत्तुंग होता जा रहा था । न तोड़ सकी वह अपना बन्धन । तुंगकी मूरत उसके हियेमे जमकर बैठी ।

एक रात जब प्रासादके पहरुओंकी आँख बचा दिहाकी दासी तुंगको रानीके पास ले गई तब रानीकी चिर सचित कामना पूरी हुई । तुंग उप-पति बना ।

दिहाके पति क्षेमगुप्तका सहसा निधन हो गया । एकके बाद एक दो बेटे कश्मीरकी गद्दीपर बैठे और रानी उनकी बारी-बारीसे अभिभाविका बनी । शासनमे तुंगका साहचर्य बना रहा । डामर अपनी तलवारें चट्टानों-पर तेज करते रहे, ब्राह्मण पुरश्चरणका मन्त्रोच्चार करते रहे पर तुंगकी शक्ति सेनापर बनी रही, जैसे उसका राज भी दिहाके हृदयपर बना रहा । और दिहा, जो स्वयं भी मनस्विनी और निरंकुश थी, तुंगकी अंक-शायिनी बनी रही ।

×

× .

×

फिर युग बीते । पुत्रकी मृत्युके बाद दिहा अपने अधिकारसे रानी हुई, कश्मीरके राजसिंहासनपर बैठी । काव्यकारोंने अपनी रचनाओंमें उसके उल्लासका सौरभ उँडोला, रसाचार्योंने उसकी प्रेरणासे अपनी वाणी सरस की । दिहाका रस-कोष निरावृत था, रसिकोके अन्तर उससे आप्लावित थे, चारणोंके कण्ठ सहजसिक्त । परन्तु रानीके उन्मुक्त विलासका धनी तुंग था, सेनापति खस तुंग ।

एक रात जब रजनी चन्द्रविहीन थी, अमाका निशीथ साँय-साँय कर रहा था, दिहाने अपनी रोगशय्यापर करवट ली । पास ही बैठा तुंग झपट-कर और पास आ गया, शय्यासे लग बैठा ।

दिहाने आँखें खोलीं, बड़ी, सरस आँखें, जो बुढ़ापेमे भी सरस थीं, मदरागसे रंजित और अब आसन्न मृत्युके भारसे बोझिल ।

‘तुंग !’, रानी बोली ।

‘देवि’, तुंग बोला ।

‘कहाँ हो, तुंग?’

“यही हूँ, देवि, चरणोंमें।”

“जा रही हूँ, तुंग! तनकी लीला समाप्त हो रही है। तुग जियो, तुम्हारी ऊर्जस्वित् शिराएँ कभी शिथिल न हों!”

“देवीके प्रयाणके बाद धरापर तुगके लिए फिर कुछ शेष न रह जायगा।” आँसू भरी आँखोंसे दिदाको देखते हुए घुटने टेके तुगने भरिये स्वरमें कहा—“आजा करें, देवि, तुग चितारोहण करे या जल-समाधि ले?”

“नहीं, तुंग, देह धारण करो। मनमे विषाद न लाओ। मनकी गतिसे परे कोई धर्म नहीं, शास्त्रका कोई अनुबन्ध नहीं, मनको हल्का करो। देखो मेरे मनको जो फूलसे भी हल्का है, जो निर्विवाद, निःशक भवकी सीमाओंको पार कर जायगा।”

और धीरे-धीरे रानीकी आँखें मूँद गई।

मैथिल कोकिल

उत्तर बिहारमे गंगापर दरभंगाका राज है। दिल्लीके सुलतानोंकी कृपासे वह रियासत ब्राह्मणोंकी मिली थी। उसीसे लगी ब्राह्मणोंकी बस्तियाँ है, मैथिल ब्राह्मणोंकी। मिथिला उनका प्रधान केन्द्र थी और उसीसे उनका मैथिल नाम पड़ा। मिथिलाका जनपद अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतके सांस्कृतिक इतिहासमे प्रसिद्ध रहा है। पहले विदेह राजाओंने फिर विदेहोंके गणने वहाँ अपने यशका विस्तार किया, और पिछले कालमें मैथिल ब्राह्मणोंने उस जनपदमें साहित्य और दर्शनकी भारती मुखरित की। मैथिल दार्शनिकोंकी चर्चा दूर दक्षिण तक हुई और कहते हैं कि यदि वाचस्पति मिश्रने स्वामी शंकराचार्यकी रचनापर अपनी 'भामती' टीका न लिखी होती तो शंकरकी ख्यातिपर खासा परदा पड़ा रहता।

इन्हीं मैथिलोंमे कालान्तरमे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसको उसके प्रेमियोंने अभिनव जयदेव, कवि-कोकिल, मैथिल कोकिल आदि नामोंसे पुकारा और जिसको मधु-भारती इतनी अभिराम सजी कि पासके विविध प्रान्तोंने उसे अपनी-अपनी भाषाका कविगुरु माना। वह बालक विद्यापति था।

विद्यापति था भी वह निस्सन्देह। क्योंकि जहाँ उसके मडनसे कवि-भारती मंडित हुई वहाँ 'पुरुष-परीक्षा', आदि ग्रन्थोंकी रचनासे उसने ज्ञानके अन्य क्षेत्र भी भरे पुरे। उसके पद तो इतने मधुर हैं कि अनेक प्रान्तोंके कवियोंके आदर्श बन गये हैं और अनेक बार इतनी साधनासे लोगोंने उसका अनुकरण किया है कि विद्यापतिके पदोंको उनसे अलग करना कठिन हो गया है। जयदेवसे प्रायः डेढ़ सौ ही साल बाद होनेवाले इस अभिनव गुरुदेवने गेयतामें, पदलालित्य और कलाकारितामें, प्रान्तीय

भाषाओंमें अपना सानी न रखा । हिन्दीका वह मधुरतम कवि है, मति-रामसे भी मधुर, रससे असाधारण आप्लावित । उसके पद और गीत विविध त्योहारोंपर, विवाहादिके अवसरोंपर पूर्वी उत्तर प्रदेश और समूचे बिहारमें गाये जाते हैं । उसी कवि-कोकिलकी कथा है यह, अभिनव जयदेवकी ।

बागमतीके तीर बिसपी गाँवमें उसका घर था । पर जैसे खुली हवाको दिशाएँ नहीं बाँध पातीं, वैसे ही उस बालकको उसके घरकी दीवारें नहीं बाँध पायीं । लूके दिनोंको छोड़कर शेष सारे मौसम अधिकतर वह बागमतीके किनारे बिताता । उसकी लहरोंमें बालकका मन बसा था, उसकी चंचल लहरियोंको देरतक वह निहारा करता और अनेक बार गर्मियोमें, शरद्की आकर्षक सुषमामें तीर ही तीर चलकर हिमालयकी उस शृङ्खलाके पास जा पहुँचता, जहाँ बागमतीकी धारा नेपालके पहाड़ोंसे निःशब्द उतर पड़ती है ।

बालककी नाद-माधुरी भी प्रायः निःशब्द ही थी । हाँ, उसकी भावभूमि निश्चय तरंगोंसे उद्वेलित होती और सुननेवालोंके निस्पंद प्राण सहसा व्यग्र हो उठते । विद्यापतिके पदोंमें इतनी कोमलता है कि लगता है कि जैसे शब्दायमान होते ही पुरुष तार टूट जायेंगे । अत्यन्त कोमल स्वरमें वे गाये जाते हैं, ऐसे कोमल कण्ठसे कि तारपर पहुँचते भी नाद विकृत न हो जाय । ऐसे कोमल पद रचनेवाला कवि स्वयं मन और शरीरसे कितना कोमल रहा होगा, इसका अटकल सहज ही लगाया जा सकता है ।

एक दिन जब वनप्रान्तर मधुमासके फूलोंसे उमँग रहे थे, नदीका अचल वन्यकुसुमोंसे चित्रित हो रहा था, आमोंकी मंजरियाँ भौरोंमें उन्माद भर रही थीं, उन्हे खा-खाकर कषायकण्ठ हो कोकिल प्रियाओंको बरबस छेड़ रहे थे, इस बालकविने भी टेरा—

नव वृन्दावन नव नव तरुगन

नव नव विकसित फल

नवल वसंत नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल ।

बालक अब इतना बालक न था जितना कवि था । उसके मासल होठ-के ऊपर तारुण्यकी रेखा श्यामल हो चली थी । पौरुष, मधुर मंदिर पौरुष, अभी अँगड़ाया ही था कि कविने शारदाको लजा देनेवाली वाणी गुनी और पञ्चमके आधार (कोकिल) को लज्जित करता उसने ऋतु-राजके नवागमनका अभिनन्दन किया ।

पदके शब्द दिशाओंमें भर चले, वायुकी अँगड़ाती पलकोंपर उनकी अक्षय निधि बन चढ चले, उस ओर जहाँ अभिराम मतिमती शिवसिंहकी रानी लखिमा देवी बजरेपर बैठी पतिके आपानकसे ऊब स्वच्छ वायु ले रही थी । वायुके पखपर चढ़ी जब विद्यापतिकी पंक्तियोने कानोंका स्पर्श किया तब जैसे मदिरासे विरक्त मन भी इस नव-वारुणीके स्पर्शसे मद चला । तनमे हल्की सिहरन हुई, गात पुलक उठा, रोयें खड़े हो गये । राजाकी ओर रानीने सार्थक देखा ।

“सुना, रानी, सुना ।” राजा बोला ।

“कितना मधुर था वह नाद, राजा !” लखिमा बोली ।

कविने गीत दोहराया । कान जैसे सफल हो गये । अल्हड़ नादकी रागतरंग जैसे रसकी रिमझिम करती सुनने वालोंको सराबोर कर देती । रानीने बजरा उधरको बढ़ानेकी आज्ञा दी जिधर रसका धनी कवि ध्वनिकी लहरियाँ उठा रहा था । बजरा जा पहुँचा निस्पंद, नयनपथकी परिधिमें । दोनोंने दोनोंको देखा, देखते रहे । राजा दोनोंको देखता रहा ।

एक दिन बिसपीमे दरबारके दूत आ पहुँचे, राजा-रानीका सवाद लिये, हाट-नगरकी ब्राह्मणोत्तर सम्पत्ति लिये । कवि दरबारमे गया, अन्तःपुरके महलोंमे जहाँ उसकी नयी कविताओं, नये पदोंके स्वर बहे । अब तक कवि

अपने काव्य-वैभवसे जनपदको निहाल कर चुका था, अब वह अपने स्वामी-स्वामिनीको निहाल करने वहाँ पहुँचा ।

महीनों-सालों विद्यापतिकी रसधारा वहाँ बहती रही, राजा-रानीके अन्तरको प्रतिध्वनित करती रही । 'राजा शिवसिंह' और 'लखिमा रानी' के अनवरत स्पर्शसे पद चमक उठते । जानकारोंने कहा कि पद इतने ललित न होते, जो उनको लखिमाके नामका स्पर्श न मिलता । विद्यापतिकी तरल रागिनी निस्संदेह लखिमाके कोमल भावतन्तुओको छूती थी, निस्संदेह टकराकर लौटी रागिनीसे कविका अन्तर प्रतिध्वनित होता था । धीरे-धीरे यह राग-कला जनपदकी कहानी बन गयी, धीरे ही धीरे राजाके भीतर सदेहका अकुर जन्मा । और एक दिन छलछन्दसे रहित राजाने जब छलछन्दसे रहित रानीसे पूछा, "प्रिये, मानस क्या स्वाधीन न रहा ?" तब रानी बोली—"नही स्वजन, लगता है जैसे अन्तर कुछ आकुल है, सर्वतः सर्वस्व दे नहीं पाता । अपराधिनी हूँ, देव ।" और राजा उसके उस संयत अपराधको भुला प्रियतर उपचारोंसे प्रियाको भेंटता जिससे उसके कोमल हृदयको स्वजनसे यह दूसरी ठेस न पहुँचे । एक उदार हृदय अनीतिके अपचारका मार्जन माँगता, दूसरा उदार हृदय अपराधको अपराध न माननेका आग्रह करता ।

×

×

×

दिल्लीका शासन सुल्तान गयासुद्दीनके हाथमे था । गाजी तुगलकने खिल्जियोंके पतनके बाद हिन्दुस्तानकी हुकूमतकी बागडोर सँभाली थी और मंगोलोंसे देशकी रक्षाके लिए सीमापर किल्लोंकी जंजीर बाँध उत्तर भारतमे विशेष लोकप्रिय हो गया था । पूरबमें बगालकी सरहद तक उसके बेटे जौनाकी हुकूमत थी जिसने जौनपुर बनाया और जो बादमें मुहम्मद तुगलकके नामसे विख्यात हुआ । मिथिला भी तब जौनपुरके सूबेमे आई और दिल्लीके बादशाहको कर देना उसके लिए अनिवार्य हो गया । दिल्लीके

सुल्तानोंको वह कर पहलेसे ही देती आई थी और दोनोंके बीच शान्तिका यह कर ही एक मात्र प्रतिबन्ध था ।

जनपदमें एक बार जो अकाल फैला तो कर दिल्ली न जा सका और शाही फौजें मिथिलामे उतर आई । शिवसिंह क्रोध होकर दिल्लीके महलोमे पड़े ।

रानी पतिके अभावमें घुल चली । दिल्ली अनेक दूत भेजे, करकी सम्पत्ति निजी रत्नोंसे पूरी की, परन्तु राजा न लौटा । सुल्तानकी सख्तो नरम न पड़ी । राजाके बन्धन ढीले न हो पाये ।

रानीने विद्यापतिको स्मरण किया । विद्यापति आये । कविका हृदय मित्र राजा शिवसिंहके बन्धनसे स्वाभाविक द्रो दुखी था । अब जो रानीका बुलावा आया तो उसने करणीय निश्चित कर लिया । रानीके सामने जब कवि खड़ा हुआ तब स्थितिका उल्लेखकर रानी बोली—“कवि, विधाताने वैर किया, स्वामी बन्धनगत हुए । अब जो कवि कौशल करे तब कहीं वह बन्धन टूटे । दिल्ली जाओ—सुल्तानका कोप बड़ा है पर अनुरागका अचल भी उससे कुछ छोटा नहीं, और तुम्हारे रागवैभवकी परिधि तो उससे कही व्यापक है । जाओ, कुछ आश्चर्य नहीं जो सुल्तान रीझ जाय और लखिमाका राजा अपने महलोंको लौटे ।”

शान्त गम्भीर कविकी द्रवित वाणी धीरे-धीरे शब्दायमान हुई—“जाऊँगा, देवि, दिल्ली जाता हूँ । सम्भव है तुम्हारी आशा फले, सुल्तान द्रवित हो जाय । राग-ध्वनिपर तुम्हारा अनुचित विश्वास है, रानी, पर जायेगा, कवि, अकिंचन कवि दिल्ली जायगा ।”

“जाओ, कवि, वासवदत्ताके यौगधरायण बनो, मिथिलाका उदयन लौटे ।” रानी आकुल हिया थामे बोली ।

कवि नतमस्तक हो लौटा और चुपचाप चला गया । रानी हियेपर हाथ रखे जैसी की तैसी खड़ी रही । कवि उसका अन्तिम सबल था ।

पृथ्वीराजके दूटे महलोंसे कुछ ही दूरपर कुतुबमीनारकी छायासे कुछ पश्चिम हटकर तुगलकके बनवाये नये महल खड़े थे। उन्हीं महलोंमें मिथिलाके राजा शिवसिंह क्रौंद थे। दरबार लगा था। सुल्तानसे कवि विद्यापतिके काव्यकी कथा कबकी कही जा चुकी थी और उसने कविको दरबारमे बुला लिया था। किसीने सहसा कह दिया कि मैथिल कवि आँखोंसे परेके अनदेखे सौंदर्यका अपूर्व वर्णन करता है। सुल्तानके मुँहसे सहसा निकल पड़ा—“सद्यःस्नाता सुन्दरीका वर्णन करो!” कविने तत्काल गाय—

कामिनि करए सनाने ।

हेरितहि हृदय हनए पंचबाने ॥

चिकुर गरए जल धारा ।

जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा ॥

कुच-जुग चार चक्रेबा ।

निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा ॥

ते संका भुज-पासे—

बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे ॥

तितल वसन तनु लागू ।

मुनिहु क मानस मनमथ जागू ॥

भनइ विद्यापति गावे ।

गुनमति धनि पुनमत जन पावे ॥

(कामिनी स्नान कर रही है, देखते ही कामदेव वाणोंसे हृदय बेध देता है। केशोंसे जलकी धारा चू रही है, मानो मुखरूपी चन्द्रमाके डरसे अन्धकार रो रहा है। उसके कुच-युगल सुन्दर चकवे हैं जिन्हें किसी देवताने उसे ला दिया है और इस शकासे कि पक्षी आकाशमे उड़ न जायें कामिनीने अपनी भुजाओंसे उन्हें बाँध रखा है। भींगे वस्त्रके शरीरसे सट जानेसे उसके अंगांगोंकी सुन्दरता नग्न हो उठी है जिससे मुनिके मानसमे

भी कामदेव जाग उठे । विद्यापतिकी कामना है कि यह गुणवती रमणी पुण्यवान जनको प्राप्त हो !)

दरबारमें वाह ! वाह ! की ध्वनि तो निश्चय ही मुखर हुई परन्तु सुल्तानका मन भरा नहीं । उसने विद्यापतिको, कहते हैं, लकड़ीके सन्दूकमें बन्द कर कुएँमें लटका दिया । ऊपर एक सुन्दरी आग फूँकती खड़ी कर दी गई । कविको उसका वर्णन करनेको आदेश मिला । कविने गाया—

सजनी निहुरि फुँकु आगि ।

तोहर कमल भमर मोर देखल ॥

मदन ऊठल जागि ।

जो तोहे भामिनि भवन जएबह ॥

ऐबह कोनह बेला ।

जो ए संकट सौं जी बाँचत ॥

होयत लोचन मेला ॥

(सजनी तू झुककर आग फूँक रही है । तुम्हारे कमलरूपी मुखको मुझ भ्रमरने अब देख लिया है और मेरे अन्तरमें मदन जग उठा है । जो तू अपने घर गई तो, हे भामिनि, बता दे किस बेला लौटकर आयगी ? और मैं जो इस सकटसे बचा तब कहीं तुझसे आँखें चार होंगी ।)

राजा बन्धनमुक्त हो गया । कवि उसे लेकर मिथिला पहुँचा । दर-भंगाके सुखपर कविका ऋण वह न चुका सकी । दिन-दिन रात-रात उसने सोचा, क्या देकर वह अपना वह ऋण मोचन करे जिससे उसका गया हुआ एहवात लौटा । और एक दिन जब कवि दरबारके रसिकोंका मन अपने गायनसे रससिक्त कर रहा था तब रानीको उसके प्रति विशेष अभिरुचि हुई । उसका आकर्षण जागा और बड़ी जुगतसे दबाया मन सहसा सात्त्विक स्वेदसे पिघल चला । दरबारके बाद फूलोंसे लदी वासन्तीके नीचे सहसा रानी कविसे पूछ बैठी—“कवि, उपकृत अन्तर ऋण बोझिल हैं ।

क्या कहूँ कवि, कि वह ऋण कटे ? फिर भी क्या तुम्हारे कियेका मोल चुका सकूँगी ?”

कविने शान्त मुद्रामे माँगी—मात्र एक सध्या, कौमुदी वितरित गगन-वितानके नीचे राजाके साथ नये पदका श्रवण । वस, इसके अतिरिक्त कवि-की कोई कामना नहीं, इससे परे उसकी कोई साध नहीं ।

और एक रात जब सध्या पूनोकी चन्द्रिकासे दहक उठी थी, वायु माधवीके कुसुम परागसे मन्द महक रही थी, तभी वासन्ती कुञ्जके आगे कदली वाढ़ोंके बीच कवि अपनी वीणा लिये बैठा । सामने राजा और रानी बैठे । कविकी कटि मिरजईके निम्न भागसे दबी रेशमी उत्तरीयसे बँधी थी, मुक्ताहार सामने हिल रहा था, कानोंके कुण्डल सचल थे, कन्धों तक कटे कुन्तल कुञ्चित हो बयारके हल्के स्पर्शसे हलके हिल रहे थे । कविने भाव-गद्गद हो मानव कण्ठमे विद्याधरकी ध्वनि भर गाया—

जनम अवधि हम रूप नेहारल

नयन न तिरपित भेल—

हियेका जुग-जुगका संजोया तरल ताप रागके सयोगसे अकल्पित बढ़ चला । और वह चली साथ ही लोचनोंसे आँसुओंकी धारा । और उस कविकी कहानीसे रानीकी कहानी भी जा मिली । उसके नयनोंसे भी नीर बह चला था । उसी प्रकार दोनोंके भावके धनी राजाके नेत्र भी भींग चले थे । कवि और रानीका भेद जनपदके रसिकोंका उल्लास बना ।

कनवाहेका मोर्चा

कनवाहेका मोर्चा । तुर्क और राजपूत । बाबर और साँगा ।

बाबर—जालिम तैमूर और खूंखार चंगेजकी औलाद । लासानी लड़ाका, कलमका बादशाह, सखी कलन्दर । बर्फ-सा रंग, ऊँचा कद, फ़ौलादी जिस्म । काँखमें दो-दो जवान दबाये किलेके कोटोंपर दौड़ जाये, राहकी नदियाँ तैर कर पार कर ले । रानके नीचे घोड़ा कुचल दे । नित्य अस्सी मील लाँघ जाय । बलख-बदख्शाँकी केसर-उमगती जमीनपर जमाने तक लगी आँखें; सीर-आमूकी तलहटीके खुशनुमा बाग़ो, फ़रग़ाना समरकन्द-के तख़्तके लिए ग्यारहकी कच्ची उम्रसे पाँच-पाँच खूनी चोटें । फिर काबुल और हिन्दुस्तान ।

साँगा—गुहिलकुम्भाकी सन्तान । दिलेरीकी आखिरी टेक, साहसकी शपथ । तपाये ताँबेका रंग, वज़्र-सी कठोर छाती, साँचेमें ढला ऊँचा जिस्म । बदनपर अस्सी घाव गिनता था, एक भुजा नहीं, एक आँख नहीं । लड़ाईकी ज़िन्दगी, घोड़ेकी पीठपर आरामकी नींद । क़ौलका लामिसाल पक्का । धावे गढ़ मांडूसे बहावलपुर तक, कालपीसे काठियावाड़ तक । चोट जो की तो दिल्लीका तख़्त हिल गया, इब्राहिमको दो-दो बार पकड़कर छोड़ दिया । मेवाड़ और दिल्लीकी हृद जमुनाकी धारामें खींची ।

बाँकेसे बाँकेका मोर्चा था । फ़ौलादने फ़ौलादपर चोट की । भीर, लाहौर, पानीपत, दिल्ली और अब आगरेकी राहमें बाबर । साँगा अजमेर, जैपुर लाँघता उसकी ताकमें । बाबरने सीकरीके पास अपना डेरा डाला, राणा बियानेकी ओर बढ़ा । बाबरके इशारेसे बाँका खुरासानी अमीर

राजपूती सेनाके पीछे पड़ा। राणाने जो फिरकर चोट की तो खुरासानी सीकरीके पड़ावपर ही जाकर गिरा। तुर्की फ़ौजपर मातम छा गया।

राजपूती आनकी कहानी बाबरने सुनी थी, बाबरकी फ़ौजोंने सुनी थी। पानीपतके मोर्चेसे विजयी हो जब मुगल दिल्लीकी ओर बढ़ा तभी भेदियोंने कहा था, आगेका मोर्चा विकट है, साँगाका मोर्चा है, उन कबीलाई राजपूतोंका जंग जिनका गिज़ा, मौत जिनका सिरपेंच है। तुर्की फ़ौज सहम गई थी। अब जो खुरासानीने मीलों भाग सीकरीमे ही पनाह ली तब तो काटो तो लहू नहीं।

जगह-जगह मुगलिया फ़ौजी पड़ावमे रम्माल रमल फेंकने लगे, लड़ाईका अंजाम गुनने लगे। सितारे उलटे पड़े, क्रिस्मत बेरौनक। घबड़ाई फ़ौजोंने हथियार डाल दिये।

बाबरने देखा, मैदान बग़ैर लड़े हाथसे निकला जाता है। पुरखा चंगेज जलालुद्दीनको खदेड़ता सिन्ध तक अनायास चला आया था। पुरखा तैमूर उत्तरी हिन्दुस्तान लहूलुहान कर गया था। कैसे उन्हींकी औलाद जंगपरस्त बाबर बग़ैर लड़े लौट जाये? ना, वह नहीं लौटेगा। उसकी रूमी तोपें, फिरगी तोपें, मार करेंगी; आखिर नेज़ोंकी उनके सामने क्या औक्रात! फिर आखिरी वक़्तपर भला उसके 'तुलुगमे'को आज तक कौन रोक सका है? काफ़िर क्या रोक सकेंगे?

पर चेहरा बेरौनक था। अपने ही लड़े मोर्चे बच्चोंके खेल-से लगने लगे। उजबकोंके हमले उसके जाने थे, मंगोलोंके तुलुगमे उसके जाने थे, अफ़ग़ानोंके जुझारु धावे भी, अपने तुर्कोंके जमे मोर्चे भी, पर यह तो क्रौम ही दिगर थी, इसका तो रवैया ही दूसरा था। घोड़ेकी पीठ इसका डेरा था, तलवार इसकी दौलत थी, मौतकी खोज इसकी आखिरी मजिल। बाबरने मीना और जाम फेंक दिये, सोने और सुनहरे काँचकी शराब-भरी सुराहियाँ टूक-टूक कर दीं। घुटने टेक दिये—“या खुदा, अबकी सम्हाल, फिर शराब नापाकके हाथ नहीं लगाऊँगा।”

जेहादके नारे बुलन्द हुए । इस्लामकी जीतोंकी सौगन्ध खाई जाने लगी, शहीदोंकी कुर्बानियोंकी, गाजियोंके हाँसलोंकी । फ़ौजके सीनेमें नई जान आ गई—“जस, चाहे मौतका पंजा जकड़ जाए; जस, चाहे जिन्दगी-का धागा टूट जाये !” सिपाहियोंकी रगोमे नया खून दौड़ चला । बाबरने कुरान उठा लिया—“उठाओ कुरान शरीफ, क़सम न्याओ—नदीका झड़ा झुकने न देंगे, इस्लामकी सफ़ेद चादरपर हारका स्याह धब्बा न लगने पायेगा ।” फ़ौजने कुरान पाक छूकर क़समें खाई, जाती हुई हिम्मत लौटी, बाबरकी जानमे जान आई ।

राणा अपने राजपूतोंको लिये मज़िलपर-मंजिल मारता उड़ा आ रहा था । मारवाड़, अम्बर, ग्वालियर, अजमेर, चन्देरीके रिसाले उसके दायें-बायें थे, पास-पीछे । बाबरने सीकरीमें ही मोर्चाबन्दी की, व्यूह रचा । नौरोज था, १२ मार्चकी तारीख थी । दाहिना बाजू चुने लड़ाकोंसे भरा, बायाँ सदाके विजयी जवाँमर्दोंसे, हरावल उनसे जिन्होंने कभी दुश्मनको पीठ न दिखाई । सामने गाड़ियाँ थी, पाँच-पाँच कदमपर लासानी मार करने वाली रूमी और फिरंगी तोपें, पहियोंपर रखी विशाल तिपाइयाँ । रिसालोंके धावे रोकनेके लिए तोपें चमड़ेके रस्सोंसे जकड़ दी गई । तोपोंका यह तरीका मध्य एशियामे भी नायाब था । यह रूमी (उस्मान्ली) तरीके की नकल थी । फ़ारसकी लड़ाईमे उस्मान्लियोंने इस मोर्चेका इस्तेमाल किया था । यह बोहेमियाके तोपचियोंकी सूझ थी, जिन्होंने पहले-पहल इसका इस्तेमाल जर्मन रिसालोंकी बाढ़ रोकनेके लिए किया था ।

मारा मोर्चा बाँध बाबर घोड़ेपर सवार दाहिने बाजूसे बायें बाजूतक ढौड़ गया । आखिरी बार सिपाहियोंको क़समें खिला, उनके दिलमे जोश भर लौटा, फिर सिपहसालारोंको लड़ाईके कौल-तरीके समझा आगे बढ़ा । फ़ौज उसी मोर्चेसे दो मील आगे सरकी । उस्ताद अली कुलीके बन्दूक़ची तोपों और पैदलोंके बीच चले, जिसमें उनके बीच सम्बन्ध टूट न जाए ।

१५२७ की मार्चकी सोलहवीं तारीख थी जब कनवाहेके मैदानमें दोनों

सेनाओंका सामना हुआ। राणाने दम न लिया, न दम लेने दिया। मजिलशर मजिल मारता आया था, तोपोंके मुँहमें दौड़ पड़ा। बारूद चीनने ईजाद की थी, पर उसका इस्तेमाल उसने महज आतिशबाजीमें किया। बन्दूक और तोपके जरिये उसका उपयोग पश्चिमने किया, यूरोपने, यूरोपीय तुर्को-रूमियोने, फिर हिन्दुस्तानमें बाबरने।

हिन्दुस्तानने ऐसी लड़ाई नहीं लड़ी थी, देखी न थी, सुनी न थी। इब्राहिम लोदीकी एक लाख सेना पानीपतके मैदानमें इसी नई लड़ाईका शिकार हो गई थी। हाथी फूटते गोलोंके सामने, टूटते शोलोंके सामने छिनभर न टिक सके थे, अपनोंको ही रौंदते भाग चले थे। राणाने तोपों-बन्दूकोंकी बात सुनी थी, उसके दिलेर राजपूतोंने उनकी बात सुनी थी। सुनकर हँस दिया था। लड़ाईके मामलेमें उन्हें किसीसे कुछ सीखना न था। उनके भाले हाथमें हों, तलवारें म्यानमें, घोड़ेकी पीठ हो, कण्ठ शराबसे तर हो, आँखोंके डोरे चंड़ीके उस तरल प्रसादसे लाल हों, असवारके भी, घोड़ेके भी, फिर आ जाय सामने चाहे जम !

साँगा आया और बढ़ता चला आया। राजपूतोंकी लहर उठी, लहर-पर लहर लहराती तोपों तक चली जाती, फिर उठती और बिखर जाती। सवार घोड़ेपर, घोड़ा असवारपर। फिर भी माताकी छातीपर बेटोंके मुण्ड गिरने लगते, अंग-अंग बिखर पड़ते, पर कहीं उफकी आवाज न होती, कहीं धायल पानी न माँगता, कराहता नहीं।

पर आग उगलती तोपें भी राजपूती धावेको न रोक सकीं। मुस्तफ़ाने जौनसारी फ़ौजोंपर रिसालोंके धावे देखे थे, फ़रगनाके मैदानोंमें उसने अपनी रूमी तोपोंसे उजबकोंके हौसले पस्त कर दिये थे, पर आज यह किनसे पाला था जिनपर गोलोंका कोई असर नहीं, बारूदका कोई बस नहीं ? घंटों लड़ाई चलती रही। तोपोंके चक्के टूट गये, उनके चमड़ेके रस्से टूट गये, तुर्की फ़ौजोंका मोर्चा टूट गया, राजपूती बाढ़ न रुकी।

पर लड़ाई अब तोपोंकी न थी। दुश्मन उनके मुँह अपने सीनेसे बन्द कर चला था। ऐसी लड़ाई इतिहासने न जानी थी। अब लड़ाई तलवारोंकी थी। बाबर सारी राजपूती सेनाके मैदानमें आ जानेकी राह देख रहा था। आधीसे कहीं अधिक शत्रु-सेना उसकी तोपोंकी आगमें स्वाहा हो चुकी थी। जो बची थी वह भयकर मार कर रही थी। तोपें बिखर गई थी, उनके मुँह फिर गये थे, बन्दूकची बेकार हो चले थे, उनके पास फायर करनेकी दूरी न थी।

अब बाबरने अपना हुनर दिखाया। 'रिजर्व' को इशारा किया। चारों ओरसे हजारों घुड़सवार एकाएक उठे और बढ़ते तूफ़ानकी तरह मैदानपर छा गये। बाजूके रिसालोंने सहसा राजपूतोंपर पहियेकी तरह घूमकर पीछेसे हमला किया। यही मगोली 'तुलुगमा' था, ऐन वक़्तपर बाबरने उसका इस्तेमाल किया था। राजपूती कतारें बिखर गईं। जब तक तोप-चियों और बन्दूकचियोंका सामना था उसकी रास न रुकी, पर अब उन्हें लौटकर पीछे लड़ना था। और घुड़सवार हमलावर सेनाके लिए फिर जानेपर लौटकर लड़ना सम्भव नहीं होता। राजपूत घिर गये थे और अब जो चारों ओरसे उनपर मार पड़ी और वे लौटे तो मुस्तफा और उस्ताद अलीने अपनी तोपें फिरसे सम्हालीं। उनके मुँह दुश्मनको ओर फिरा दिये और विकटकी मार शुरू की।

अब राजपूतोंने अपना खतरा देखा। उनका ब्यूह कबका टूट चुका था। पर उनकी मार अब देखने ही लायक थी। बँधी ब्यूहकी लड़ाई, कतारकी लड़ाई, जुमला लड़ाई होती है सामूहिक। उसमें सबपर समान चोट पड़ती है, सब शत्रुपर समान रूपसे चोट करते हैं। पर टूटे मोर्चोंकी लड़ाई इकाइयोंकी लड़ाई होती है जिसमें अकेली वीरताके सबूत मिलते हैं। यह समय उसी अकेली दिलेरीका था। न कोई पनाह माँगता था न कोई पनाह देता था। जहाँ-तहाँ जोड़े लड़ रहे थे, अधिकतर लड़ाके बीचके

मैदानमें राजपूत ही थे, जो चारों ओरके नये रिसालोंके निशाने तो थे ही, तोपोकी नई मारके भी लक्ष्य थे ।

राजपूत झूम रहे थे । राणाने विकटकी मार की थी । उसके बचे सरदार उसके आगे पीछे भयंकर मार कर रहे थे । अधिकतर तो खेत रहे थे । 'हर हर महादेव ! जय एकलिंग !' की गगन-भेदी ध्वनि अब मद्धिम पड़ने लगी थी । जब राणाको बचानेकी कोई राह न मिली तब सवारोंने अन्तिम प्रयत्न किया । राणा चोटों और थकानसे चूर-चूर हो रहा था । उसकी सज्ञा लुप्त हो चली थी । तभी किसीने उसे अपने घोड़ेपर सम्हाला । फिर तो इन्सानी दिलेरीकी कुछ ऐसी कीरत कनवाहाकी उस जमीनपर लिखी गई, जिसका मिसाल दुनियाके इतिहासमें नहीं है ।

राजपूतोंने तोपोंकी ओर रुख किया । उधरसे हमला केवल तोपोंका था । अपनी अगली बाढ़ें बलिदान करते राजपूत उन्हें लॉथ चले । बाबरने फिर तुलुगमेका हुक्म दिया । ख्वारिज्मी रिसाले घूमकर उधर बढे भी, पर साफ़ उनकी कतारें चीरते राजपूत राणाकी संज्ञाहीन देह लिये उनके बीचसे निकल गये ।

अस्मृतका खून

पहाड़ी इलाका । घने जंगल । जंगलोंकी गहराईमें मांडूके विमल प्रासाद । मालवाके सुल्तानोंका अजेय गढ़ । जमीन, जो सदासे सोना उगलती रही है, जिसने उपजकी इतनी इफ़रात दी है कि भोजके साहित्यिक सपने सच हो सकें, कि उसके दानोकी परम्परा अटूट बनी रहे, कि ज्ञानकी लौ जलती रहे । उसी जमीनकी मिल्कियत कभी अफगानोंके हाथ आई ।

अफ़गान हिन्दुकुशके सायेमें सदासे अपनी आजादीकी रक्षामें सजग रहे हैं । जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ-वहाँ उन्होंने अपनी आजादीकी बेल रोपकर उसे अपने जिगरके खूनसे सींचा । मालवा जब उनके हाथ आया, उसकी कीमत उन्होंने समझी, उसकी जमीनकी कीमतसे भी बढ़कर अपनी आजादीकी । उज्जैन पुराने काफ़िलोंकी राहपर पड़ता था, राजमार्गपर, वहाँ पहुँचनेमें आसानी थी । राजनीतिक छीना-झपटी उसके लिए उसकी जमीनपर सदासे होती आई थी । ख़तरेसे बचनेके लिए अफ़गान अपनी राजधानी वहाँसे उठाकर पहाड़ों-जंगलोंके बीच गढ़मांडू ले गये ।

उसी मांडूका सुल्तान बाजबहादुर हुआ । बाजबहादुर राजा भोजकी परम्परामें था । भोजकी धराका स्वामी तो वह था ही, उसकी मानसिक सम्पत्ति भी उसने पाई थी । तलवार वह मजबूत मुट्ठीमें पकड़ता । मालवाकी आजादी उसके सारे अरमानोंके ऊपर थी । अधिकतर समय उसका लड़ाईके मैदानोंमें बीतता ।

पर ललित कलाओंमें उसकी विशेष अनुरक्ति थी, उनका वह अनुपम पारखी था, असामान्य कलावन्त । मांडूके महलोमें प्रहृत मुरजकी धीर-गम्भीर ध्वनि उज्जयिनीकी परम्परा बनाये रखती और मांडूका यह अभिजात उदयन नगरके विलासियोंका प्रतीक बनता, विलासिनियोंका साध्य ।

सितार और सारंगी उसकी उंगलियोंसे सार्थक होते, संगीतकी तरंग उसके सुललित कण्ठसे लहरा उठती; और संगीतकी वाणीका वह स्वयं सर्जक था, हिन्दीका वह अभिमानी कवि रूपमती-सा ही अनुराग-मंदिर-भाव-धनी ।

रूपमती स्वरोकी साधिका थी, स्वर-गविता, रूप-गविता, वीर नर्तकी, अनुपम गणिका । कुमारदास और कालिदासकी वारवनिताकी बात हमने सुनी है, उम परम्पराका बोध जन-कथाओमें सुरक्षित है, पर जो कोई उनकी सचाईमें सन्देह करे वह रूपमतीके अभिराम लावण्यको देखे, उसकी लासानी कलाचातुरीको, गायन-नर्तनके प्रति कभी बासी न होने वाले उल्लासको, और उसे मेघदूतके महाकालकी नर्तकियोंकी साधना, भोजकी ललित सम्पदामें पली गणिकाओ और क्षेमेन्द्र-दामोदर गुप्तकी वारवनिताओका रूप-विलास, कण्ठ-विलास सब इस रूपमतीमें ही एकत्र मिल जायगा । उसका रूप, भाव-सौरभसे सयुक्त उसकी अनुपम काया, अनुरागके दर्पसे उन्नत उसका कोमल चिबुक काव्यकी रेखाओंमें सदा उसकी स्मृति बनाये रखेंगे ।

रूपमतीकी वाणी भी बाजबहादुरकी भाँति ही अपनी थी । गेय पदोंको दुहराना गणिका-जीवनमें उसे अमान्य न था, पर अपने ही बनाये पदोंको जब वह तन्त्रीकी सहायतासे स्वर देती तब उसमें अधिकारकी गूँज होती, कोमल कल्पनाका भावसौरभ तब सुकम्पित वाणीको अभिमत निनाद देता चराचर मोह जाता ।

एक दिन बाजबहादुर भी मोह गया । वसन्तका आगम था । आमोंपर कोमल मंजरियाँ ढोलीं । उनके रससे कषाय कण्ठ कोकिलने मत्त हो मदिर प्रेयसीको चूम लिया । उपत्यकाके फूले अंचलमें पहली बार बाजबहादुरने गन्धबसी मदिरा ढाली । तभी दूरका अप्सरा-विनिन्दक स्वर सुन पड़ा । स्वरलहरी ऊँची उठी, और ऊँची, पर स्पष्ट लहरीमात्र, शब्द-विरहित ध्वनिमात्र । बाज कुछ काल सुनता रहा वह स्वरका आरोहावरोह । रह-

रह कर स्वरित तरल कारुण्य उसे हजार हाथों खींचने लगा । बाज स्वर-प्रेरक दिशाकी ओर चला ।

उसने देखा स्वर-लहरी तरंगित करने वाली उद्देश्यहीन अभिसारिका स्वयं रूपमती है । फूलोंका सेज झरनेके किनारे पड़ा है । गावतक्रियेके सहारे अघलेटी रूप पड़ी है । रागकी ध्वनि, जो अभी हाल गिरि-कुञ्जोंको अपनी करुण प्रतिध्वनिसे भर रही थी, अब मन्द पड़ गई है । दासियाँ चुप सुन रही हैं । मोरपंख हल्के-हल्के झला जा रहा है । इसे उसकी कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि यद्यपि शिशिर बीत चुका है, हवामें कुछ नमी बाक़ी है ।

बाजको एकने देखा, पहचाना, पर रूपकी परिचारिका होनेसे कुछ बोली नहीं । बाज खड़ा चुपचाप सुनता रहा । जब करुण रागकी प्रतिध्वनि रुकी तब बाँदीने रूपका ध्यान बाजकी ओर आकर्षित किया ।

रूप उठी । बायें हाथसे ओढ़नी-सँभालती दाहिनेसे सलाम करती वह झुकी । बाज पास बढ़ आया था, स्वागतके लिए झुकी गणिका तक ।

“कनीज़के बड़े भाग ! स्वागत सुल्तान आजम ! वसन्त मुबारक !” रूप बोली ।

“वसन्त मुबारक, रूपमती ! पर आज बहारके इस भरे मौसममें, फूलों लदे काननके बीच यह करुणराग क्यों ?” बाजनें मुसकराते हुए पूछा ।

“यह भी क्या बताना होगा, आला हज़रत ?” आवाज़में दर्द था, आँखोंमें बेबसी थी ।

“मालवाका फूल-फूल तुम्हारी महकसे गमक रहा है, रूपमती । मेरा भी अन्तर तुम्हारे सुरसे भरा है । क्या मांडूके महल तुम्हारी आवाज़से वंचित रहेंगे ? बाजका कोना-कोना तरस रहा है, रूप । आबाद करो मेरे सुनेको ।” बाँका तरुण अपना सरबस जैसे हथेली-अंजलीमें धरे खड़ा था; बदलेमें मात्र अनुराग माँग रहा था ।

दोनों दोनोंको जानते थे । दोनोंके मानसमें एक दूसरेकी एकान्त कामना थी । रूपमती बाजबहादुरके हरममें जा बसी । हरमका अनन्त वृत्त संकुचित होकर रूपमती और बाजबहादुर तक ही रह गया ।

रूप और बाज दोनों गायक थे, दोनों कवि । उनके विरचित पदोंमें भाव रूप धारण करता, शब्दरूप, जिसे तन्त्री निनादितकर चराचरको मुग्ध कर देती । गणिकाके पद-विन्यास अब मांडूके महलोंको झंकृत करते । पर गणिका अब गणिका न थी, सतीकी निष्ठाका मूर्तिमान रूप थी । बाजका विलास अब परिधि पा गया था । उसका सहज व्यभिचारी मन सर्वत्रसे खिंचकर रूपपर एकाम्र हो गया था ।

अनेक बार महलका कोलाहल उन्हें उद्विग्न कर देता । अनेक बार वे चाहते कि उनके कानोंमें सिवा उन दोनोंके स्वरोके तीसरा स्वर न गूँजे । वे चुपचाप परिचर रहित घोड़ोंपर सवार वनोंमें निकल जाते । घोड़ोंपर चढ़े सालस मुद्रामें जब उनकी वग्नी निसर्गकी कोखसे उठती तब जैसे उसका रोम रोम खिल उठता । चितेरोंकी तूलिका चित्रपटपर दौड़ पड़ती ।

अहेरको निकले हुए जब दोनों वनोंके अंचलको पारकर मैदानमें आ खड़े होते और सभीता हरिणी बेबस हो अपनी आँखें फैला धनुषपर बान चढ़ाये बाजबहादुरकी ओर देखती, तब बाज उन आँखोंसे अपनी आँखें फेर रूपकी आँखोंमें डाल देता । दोनोंको अपनी आँखोंसे जैसे नापता अमिमीत लोचन । रूपकी आँखें अनुनय-सी करती कहतीं—“नहीं” । और बाज धनुष-पर चढ़ा तीर उतार लेता ।

जिस-जिसने रूप और बाजके प्रेमको जाना उस-उसने अपने प्रणयको उसकी मर्यादासे बाँधा । उनका प्रणय कवियोंकी टेढ़ बन गया, प्रणयियोंके प्रणयकी सौगन्ध । शासन तक उस प्रणयकी मृदुता पहुँची । नीतिकी प्रखरता मानवीयताके स्पर्शसे मृदु बन गई ।

पर एक दिन कमलपर पाला पड़ा । रूपमतीकी ख्याति मालवाकी सीमाओंको कबकी लाँघ गई थी । उसका बाजबहादुरके प्रति प्रणय भी

उसी प्रकार दूर-दूरके दरबारोंकी चर्चा बन गया था। गुजरात और काठियावाड़, मेवाड़ और मारवाड़, आगरा और दिल्ली, काबुल और फारस तक इस जोड़ेकी कहानी कही और सुनी जाती।

अकबरने भी सुनी पर उसका सयत मन इससे मथा नहीं, प्रसन्न-तुष्ट हुआ। पर उसीके सरदार आदमके मनमें रूपकी छाया घनी होती गई। उसे पा लेनेको उसका मन छटपटा उठा। रूप और बाजके प्रणय-चन्द्रपर आदमका राहु झपटा।

आदम खाँ अकबरकी घाय माहम अनगाका बेटा था। मातृरूपिणी माहम अनगाके लिए तरुण अकबरको कुछ भी अदेय न था। उसीके कहनेसे उसने अपने पिता-पितामहके सेवक मित्र खानखाना बैरमखाँको बरवाद कर दिया था, अब उसीके कहनेसे उसके बेटे आदमको अकबरने मालवा लेने भेजा। आदमने मालवेपर चढ़ाई की। लड़ाई दिन-रात होती रही। बाज-बहादुर केवल कवि न था, केवल तन्त्री ही स्वरित करना न जानता था। उसकी मुट्ठीमें तलवार पकड़नेकी गजबकी ताकत थी और आत्मसमर्पण करना उसने कभी न सीखा था।

शत्रुकी सेनाएँ दिनमें किलेका परकोटा तोड़ देतीं, रातोंरात बाज उसे दुरुस्त करा लेता। रूप बराबर घोड़ेपर चढ़ी उसकी बगलमें बनी रहती। गढ़की सेना उनको देख उत्साहसे भर जाती, लड़ाईकी मार दुगुनी हो जाती। पर यह कब तक सम्भव था कि मालवा मुगल साम्राज्यकी चोटें चिरकाल तक सह सकता, जब रणथम्भौर और बीकानेर, अम्बर और मारवाड़के राजपूत उसके धीरजको कमजोर किये जा रहे थे। मालवाके सुनहरे खेतोंको आदमके बर्बर सिपाही बरवाद किये जा रहे थे, उसके धनी गाँवोंको उजाड़े जा रहे थे।

रूपमती पतिसे उलझ गई। “बाज, तुम जाओ”, वह पतिसे बोली। “अन्यत्र शरण लो। बच रहोगे तो मालवापर फिर अधिकार कर लोगे वरना आज तुम न रहे तो मेरा सुहाग तो अलग, -इस मालवाका सत्यानाश

हो जायेगा । तुम जाओ, राणाके पास । एक मात्र राणाका चित्तौड़ अपना सिरपेच उठाये हुए है । वही तुम्हे शरण दे सकेगा । वही आज आजादीके दीवानोंका आसरा है ।”

रूप यही नित्य कहती और बाजबहादुर नित्य पूछता—“और तुम ?” और रूप कह देती—“मैं प्रजा हूँ, बाज । मेरा घर मालवामें है, मेरा स्थान मालवाकी प्रजाके साथ है; गढ़ मांडूके लडाकोंके साथ, और तुम्हारी अनुपस्थितिमें मेरी जिम्मेदारी रक्षाकी है । तुम जाओ, राजा, मालवाकी रक्षा करो ।”

और बाज चुप रह जाता । उसका मस्तक बेबसीसे झुक जाता ।

पर आज रूप चुप रह जानेवाली न थी । उसने बाजबहादुरको दुर्गमें न रहने दिया । सुरगसे दूर तक छोड़ आई । और बाजबहादुर नतमस्तक, सब कुछ हारा-सा मेवाड़की सीमाके वनोंमें ओझल हो गया । रूपमती पतिके अभावमें मांडूकी रक्षा करने लगी । उसके पास विरहके आँसू न थे, शत्रुको भून डालनेवाली आग थी । उसने दुश्मनके छक्के छुड़ा दिये ।

पर मांडूकी सेनाओंका लड़ते रहना कब तक सम्भव था ? दुर्गकी रसद कम होने लगी । भूखकी तपिशने वह किया जो चोटके दर्दने न किया था । सरदारोने गढ़ आदमको सौंप दिया । मालवा मुगल सल्तनतका अंग बन गया ।

पर आलम मालवाके लिए नहीं आया था, न मांडूके लिए । उसके दिलमें रूपमतीके लिए दरार पड़ गई थी । उसने आत्मसमर्पण करनेवाले सरदारोसे उसे माँगा । सारा हरम उसके सुपुर्द कर दिया गया । बाज-बहादुरकी बेगमें, रखैलें, बाँदियाँ उसमें सभी थीं । चोट खाई हुई नागिन-सी रूपमती भी ।

पर चोट खाई हुई नागिन-सी । और अब-जब आदमने उसे आगरेकी

रौनक, उसके ऐशकी बात कही, जब-जब उसकी दूतियोंने रूपको फोड़ना चाहा तब-तब उसने उसे 'कुत्ता' कहकर पुकारा ।

अन्तमे जब एक दिन आदमने सारा शहर जला डालनेकी धमकी दी, तब प्रजाके सर्वनाशसे शंकित हो रूपमतीने आत्मसमर्पण करनेके लिए आदम खाँको अपने महलोंमे बुला भेजा ।

• शरत्की पूनी थी । आकाश निरभ्र था, निसर्ग हँसता था । रूपने मण्डन किया । अभिराम अलकारोसे वह सजी । जैसे बाज्रबहादुरके साथके दिन लौट आये हों । उसका सजना देख बाँदियाँ चकित थीं । फिर सोचा ऐसा होना कुछ अजब नहीं । हरमोंका एक हाथसे दूसरे हाथमें निकल जाना सामान्य बात रही है । और रूखे बालोंको स्निग्ध कर जब रानीने उनमें मोती गूँथे, फूलोंसे उन्हें सजाया तो वे प्रसन्न ही हुई । सुन्दरसे सुन्दर क्रीमतीसे क्रीमती लेबास पहनकर रूपने उसपर मादक तरल द्रव्य छिड़का । कमरा गमक उठा । वह बिस्तरपर जा सोई । सोनेका पलग कबसे उसके इन्तजार-मे था ।

इन्तजारमे आदम भी तड़प रहा था । घड़ियाल बजते ही, बताये समयके आते ही वह रूपके महलोंमे घुसा । पहरेकी दासीने कमरा बता दिया । कमरेकी दासीने पलँग बता दिया । आदम पलँगकी ओर हँसता हुआ बढ़ा । पर जो आहट न मिली तो झल्लाया । फिर जो चादर उठाई तो रूपके हिम-धवल मुँहपर ज़हरकी नीलिमा देखी । रूप बाज्रको यादमें सदाके लिए सो गई थी ।



गोहलौतका राजतिलक

राजस्थानके दक्खिनमे हरे वनोंसे ढकी पहाड़ियोंका एक प्रसार है, मेवाड़। मेवाड़ ख्यातों और इतिहासकी दृष्टिसे वीरप्रसवा भूमि राजस्थानका ही भाग है, उसका उज्ज्वलतम मूल्यतम भाग। पर उसकी शस्य श्यामला भूमिकी हरियाली निश्चय बालुकामयी मरुस्थलीकी नहीं, शाद्वला धरा मालवाकी है, साँझे और रातें जिसकी अभिराम होती है।

और भाषा उस मेवाड़की मारवाड़ी-राजस्थानीसे भिन्न है। अधिकतर गुजरातीसे मिलती, इतनी कि मीराके पदोंको बस जरा सा बदलकर गुजराती अपना कर लेते हैं। मेवाड़का सम्बन्ध इस तरह एक ओर तो मालवासे रहा है दूसरी ओर गुजरातसे। तीनोंकी सीमाएँ अक्सर मिलती रही हैं और अनेक बार तीनोंके अधिपतियोंने अपनेसे भिन्न शेष दोनोंपर अधिकार कर लिया है।

मेवाड़को दो ओरसे विन्धाचलकी शृंखलाएँ घेरती हैं। अरावलीकी उत्तुङ्ग पर्वतमालाएँ, और चम्बलकी सहायक बनास उसकी धराको उर्वरा करती है। इसी मेवाड़ने राजस्थानकी ख्यातोंको अपने विरुद्धोंसे सनाथ किया है। पर उन विरुद्धोंके निर्माता सोलकियों और परमारोंका सम्मिलित रक्त था, यह कम लोग जानते हैं।

गुजरातकी राजधानी बलभीपुरी इतनी प्राचीन थी जितनी बौद्धोंकी प्राचीन सत्ता। कालान्तरमे उसका राजा शीलादित्य हुआ, विशिष्ट राज-शृंखलाकी अन्तिम कड़ी। गुजरात और सौराष्ट्रपर विदेशियोंके हमले पहले होते थे, शेष भारतपर पीछे। उसी राह यवन और शक आये, हूण और गूजर, उसी सिन्ध-गुजरातकी राह। उसी राह आभीरोंने देशपर

आक्रमण किये । शीलादित्यकी वलभीपर संभवतः हूण-गूजरोँके ही पिछले हमलोने अपने खूनी पजे मारे ।

भविष्यवक्ताओंने पराजयकी घोषणा कर दी । सूर्यकुण्डके शकुनो-च्चारने सन्देह जगा दिया । राजा लड़ा, वीरदर्पसे लड़ा, पर लड़ा जीतने-के लिए नहीं, वीरधर्मके पालनके लिए । और वीरगति पायी भी उसने । तलवारके घाट उतर गया, जनपदके गाँव लपटोंमें झुलस गये, लोग पासके जगलोमें जा छिपे ।

शीलादित्यका रनिवास बड़ा था । राजाका मन कुछ विलासी न था । पर मरजाद बड़ी थी, इससे रनिवास भी बड़ा बन गया । कुछ राजनीतिक सम्बन्धसे आई, कुछ दैवचिन्तकोंके अनुरोधसे, कुछ राजाकी भक्तवत्सलता और औदार्यसे, कुछ नारीत्वके चमत्कारसे । और जब राजा खेत रहा तब रनिवासमें कुहराम मच गया, कुछ सुहाग छिन जानेसे, कुछ आनेवाली विपदाके भयसे, कुछ आक्रान्ताओंके ब्यूवहारसे । और राह बस एक ही सूझी, सनातनकी राह, सुहागलूटी सतीकी राह । चिता मुलग उठी, ज्वालाएँ लाल जिह्वाओंसे आसमान चाटने लगीं । सतियोने पतिकी राह ली ।

रानियोंमें एक बच रही, बस पुष्पवती, आसन्नप्रसवा । विन्ध्याचलके चरणोंमें चन्द्रावती नामकी नगरी थी, परमारोकी । और इन्हीं परमारोंकी कन्या थी पुष्पवती । जब गर्भके लक्षण प्रगट हुए तब वह मायके जा पहुँची, जगदम्बाकी पूजाके लिए, जिससे प्रसव निर्विघ्न सम्पन्न हो, शीलादित्यका कुलांकुर जन्मे ।

वलभी लौटते राहमें उसने स्वामीके निधनकी खबर सुनी । अवसन्न रह गई । लौट पड़ी । पर मायके नहीं गई । मलिया शैलमालाकी कन्दरा-की उसने शरण ली । उसीमें उसने पुत्र जना । नवजातका अभिराम रूप देख रानी रोई । चिन्ता जगी—इसकी रक्षा क्योंकर हो ? शत्रुओंसे भरे ससारमें किस प्रकार नवजातका शैशव बीते ?

शैलमालाके निकट ही वीरनगरकी बस्ती थी। जा भटकी एक दिन रानी नवजातको लिये उस नगरमें। ब्राह्मणी कमलावतीका शील उसे भा गया। कुछ दिन उसका आतिथ्य भोग एक दिन रानीने अपना भेद उसके सामने खोल दिया। फिर बोली—बहन, इसी गर्भ-शिशुकी रक्षाके लिए यह अभागा तन स्वामीके गमनके बाद भी धरे हुए थी, वह कार्य सम्पन्न हुआ। अब मेरे बिरमनेका कोई अर्थ नहीं। अब तू ही इस नवजातको पाल। जब यह बड़ा हो, इसे ब्राह्मण शील ज्ञान सिखाना और राजपूत कन्यासे ब्याह देना। चली, बहन, अब मैं उस अजाने देशको जहाँसे कोई न लौटा। तेरा मातृत्व जागे ! तेरा आँचल नवजातके मोहसे भीज चले !

और रानी चली गई, चिताकी लपटोंपर चढ़, नवजातको कमलावतीकी गोदमे डाल। और कमलावतीका मातृत्व जागा, उसका आँचल नवजातके मोहसे भीज चला।

नवजातने न जाना कि वह बाँट पड़ा बालक है, दूसरी माँका जाया। क्योंकि कमलावतीका मातृत्व विकल था, उसके मोहसे विकल, अपने दायित्वसे विकल, ममताकी डोरसे विकल। नवजात बढ़ चला, शैशवसे कैशोरकी ओर, कैशोरसे यौवनकी ओर। सूरजकी धूप वनके वृक्षोंसे छनकर उसे छूती, साँझ उसे सरस परसती और चाँदनी उसके कठोर गातपर फिसल-फिसल बरस पड़ती। कमलावती उसे देख निहाल हो जाती। साभिमान देरतक उसे निरखती रहती और उसकी आँखोंसे सहसा नीर चू पड़ता। पुष्पवतीकी याद अनायास आ जाती।

साथ खेलने वाले बालकोंने पूछा, इसका नाम क्या है, भला ? 'गोह', माँ बोली। क्या नाम है भला, 'गोह' ! 'गोह' भी कोई नाम है ? भीलों का-सा नाम। पर नाम, कहा ब्राह्मणीने, 'गोह' ही है। और गोह ही नाम पड़ गया, उस गुहामे जन्मे बालकका। ब्राह्मण-बालोंने भील-नामके वावजूद उसे प्यारसे भेंटा, गलहार बनाया। माँ कमलावतीका लाडला था वह,

कौन उसमें दोष निकाल सकता था ? कमलाके शीलका तो वीरनगरमें साका चलता था ।

कमलाने क्षत्रियके उस बालकको ब्राह्मणका शील देना चाहा, व्याकरण और धर्मशास्त्र पढ़ाना चाहा, पर प्रयत्न विफल हुआ । न सीखा गोहने ब्राह्मणका शील, न पढ़े उसने व्याकरण और धर्मशास्त्र । ब्राह्मण-बालोंका साथ भी उसने छोड़ दिया । भीलोंके बालक उसे प्रिय लगे । उन्हींके साथ वह खेलता और वनस्थलियोंमें रम रहता ।

उसे धनुषकी टंकार मधुर लगती, तीरका संधान उसे ऐसा खींचता जैसे लोहेको चुम्बक । और वह दिन-दिन रात-रात भील बालकोंके साथ वन-वन, कन्दरा-कन्दरा शिकारकी टोहमें, अरने भैसों बनैले सुअरोंकी खोजमें भटकता फिरता । माँ कमलावतीकी वह एक न मुनता, गो उसे वह प्यार करता, उसका आदर करता । माँ उसके पीछे-पीछे फिरती, वन-वन, कन्दरा-कन्दरा और रात बीते जब तब ला पटकती उसे अपने द्वार । उसे बड़ा दुःख होता जब गोह पेड़से अण्डे उतार उसके देखते-ही-देखते उन्हें तोड़ रस पी जाता और छक कर साँस लेता, जब हालके डैने निकले परिन्दोंको सहसा पकड़ वह उनकी गरदन मरोड़ देता । और कमला वहीं बेबस हो जाती ।

×

×

×

मेवाड़की दक्खिनी शैलमालामें तब भीलोंका एक छोटा सा जगली राज था, ईडर । भील मण्डलीक उसका राजा था । भील ही उस समूची वनस्थलीके स्वामी थे । गोह उन्हीं भीलोंका प्यारा बना, उनके माल्यका एकान्त लक्ष्य । भीलोंके लड़कोंके साथ वह खेलता, विकट खतरेभरे खेल, जानलेवा खूनी खेल ।

और एक दिन बस उसी ईडरके बनैले भूभागमें भील-बालोंने एक नया खेल रचाया । राजदरबारका, शासन और दण्डका । ऐसे खेलोंमें

शक्तिकी पूजा होती है, प्राणवान नर खोजा जाता है। कोई दुबिधा न थी, शक्तिकी सींव, पौरुषकी मूर्ति गोह सामने ही खड़ा था, भीलोंने उसे तत्काल राजा चुन लिया।

पर राजा चुन लेने मात्रसे कोई राजा नहीं हो जाता। राजाके परिच्छद होते हैं, लांछन होते हैं, उसका वितान होता है, फिर उसका तिलक होता है। तब कही वह सिंहासनासीन होता है, शासनकी बागडोर सम्हालता है, छत्र और दण्ड धारण करता है। सो सब वहाँ कहाँ? पर जब कल्पना निःसीम होती है, जिन्दगी बाज्रकी तरह पर मारती है, तब भला किस सम्बलकी कमी हो सकती है? किस साधनकी?

सो सब भील बालोंने सब मुहैया कर दिया। परिचरोंकी क्या कमी थी? भील बाल सर्वत्र अनुचरोंकी भाँति डोलने लगे। कोई खवास बना, कोई सेवक, कोई सैनिक, कोई सेनापति, कोई मंत्री, कोई पुरोहित। लता-प्रतानोका वितान तन गया, धनुषोंकी गोलाईमें बुना बाणोंका छत्र राजाके सिरपर छा गया, मोरपंख और फूलोंका मुकुट राजाके मस्तकपर सोहने लगा। दो भील कुमार मूँज-सरपतके धवल शिखर ले राजाके दोनों ओर चँवर डुलाते खड़े हुए। राजा डालोंसे बने सिंहासनपर जा बैठा।

अब अभिषेकके लिए जल और तिलकके लिए चन्दनकी आवश्यकता पड़ी। पासके निर्मल झरनेसे जल आ गया, पर चन्दनकी सुघ किसीको नहीं आई थी। सो अनेक भील बाल चन्दन लाने पासके गाँवकी ओर दौड़े। चन्दन आ गया, घिस कर तैयार हो गया। फिर भील पुरोहित झरनेका जल लेकर आगे बढ़ा। दूसरे पुरोहित मन्त्रोच्चार गुनगुनाने लगे। कमलों भरे जलके छींटे पुरोहितने राजाके मस्तकपर मारे, पर पत्तोंकी थालमें रखे चन्दन और अक्षत उठा जैसे ही वह तिलक करने राजाकी ओर बढ़ा, एक भोल बालक सहसा खिलाड़ियोंकी भीड़से निकल उधर झपटा।

“ऐसे राजाका तिलक इस तरह नहीं होता, तनिक ठहर जा !” वह बोला, और पलक मारते अपनी बाईं भुजा में उसने बाणका फलक चुभा दिया। भुजा से रक्त छल-छल बह निकला। हथेली पर अक्षत और चन्दन डाल उसने अपने लहू से तर कर दिया और उसी हथेली से उसने राजाका तिलक कर दिया।

साँस रोके भील बाल यह खूनी कौतुक देख रहे थे। सहसा एक स्वर से वे जयकार कर उठे—राजा गोहकी जय ! भीलराज गोह की जय !

गोहके रोंगटे खड़े थे, गात पुलकित था, स्नेह-सुख-विस्मय से आँखें भर आईं। सिंहासन छोड़ वह उठा और रक्तरंजित भील बालक को उसने बाहों में भर लिया। खेल फिर न हो सका। क्योंकि खेल अब खेल न रहा, गम्भीर जीवन उसमें उमड़ आया था। खूनी जिन्दगीका यह लाल सबेरा था।

×

×

×

ईडरके बूढ़े भीलराज मण्डलीकने जब यह सुना, स्तब्ध रह गया। उसके सरदार-दरबारी स्तब्ध रह गये। गोहको उसने राजसभामें बुलाया। गोह आया। उसके साथ उसके भील साथी आये। गोहके एक बाजू उसका खेलमें बना मंत्री खड़ा था, दूसरे बाजू वही पुरोहित जिसकी भुजाका घाव अभी भरा न था, और पीछे उसके प्यारे मित्र खड़े हुए, भील बाल।

बूढ़ा राजा मण्डलीक सहसा सिंहासन से उतरा और गोहको गले से लगाता हुआ बोला—“ईडरके राजा तुम हो, गोह, भीलोंके रक्त से अभिषिक्त ! भोगो यह राज। तुम्हारा वश उसे भोगे, गोहलौत कहलाये ! मेरा घर तो बनमें है, इधर भटक आया था, अब चला।”

और इस प्रकार गोहको ईडरका राज सौप भीलराज मण्डलीक भाला टेकता हुआ जंगलकी ओर चला गया । गोह राजा हुआ, उसकी सन्तति 'गोहलौत' कहलाई, पर किसीने जाना, उस भीलराजका क्या हुआ, उस जनकका, जिसने अपनी राजसभाको ज्ञानियोंका अखाड़ा तो नहीं बनाया पर मानवीयतासे द्रवित हो जो वह वनमे गया तो फिर सिंहासनकी ओर लौटा नहीं ।

प्रश्नका उत्तर

पराक्रमी सिकन्दर जब व्यासके तीरसे अपनी सेनाके हथियार डाल देनेपर खीझ कर लौटा तब रावीके तीर उसे मालवोंसे जूझना पड़ा। पंजाबकी जमीनपर तब पचायती राज्योका बोलबाला था। अभिजात कुलों द्वारा प्रशासित अनेक राष्ट्र पंजाबकी भूमिपर खड़े थे और सिकन्दरके आते-जाते उन्होंने पग-पगपर उसकी विजयिनी सेनाओंको ललकारा था।

इन्हीं राष्ट्रोंमें एक मूषिकोंका था, सिन्धके प्रदेशमें। पंजाबकी परम्परा के विपरीत मूषिक दास नहीं रखते थे, अपने आप खेती बारीके सारे काम करते थे। उनकी साँचेमे ढली-सी सुन्दर स्वस्थ सबल देह देख सिकन्दरकी सेनाको स्पर्ताके नागरिकोंकी याद आई, और उनके अचरजका ठिकाना न रहा जब उन्होंने सुना कि मूषिक एक सौ तीस बरस तक जीते हैं।

सिकन्दरने मूषिकोंको कई मोर्चोंपर हराया, पर बार-बार हारकर भी उन्होंने उसकी राह रोकी और पूरी तरह वे सर न हो सके। उनके नेता अधिकतर ब्राह्मण थे, प्रधानतः उन्हींका वह राष्ट्र भी था, और उस राष्ट्रका गणमुख्य था शम्भु। कहते हैं कि जिस आखिरी मोर्चेपर मूषिकोंसे ग्रीकोंकी मुठभेड़ हुई थी उसमे ८०००० मूषिक मारे गये थे। ज़ाहिर है कि देशका प्रेम इनकी रग-रगमे रवाँ था जिससे इतनी बड़ी संख्यामें वे बलिदान हो सके।

मूषिकों और सिकन्दरके सम्बन्धकी एक बड़ी दिलचस्प कहानी एक प्रसिद्ध ग्रीक लेखक प्लूतार्कने लिखी है। सिकन्दरके साथ कुछ ग्रीक दार्शनिक भी थे जो भारतीय ऋषियों और दार्शनिकोंके चमत्कार देखनेके

लिए उसके साथ हो लिये थे । वैसे तो उस विजेताका भारतीय तपस्वियोंसे अनेक बार साक्षात्कार हुआ था पर उसका जो आश्चर्यजनक सामना मूषिकोंके बीच हुआ वह इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जाने योग्य है । प्लूतार्क लिखता है कि मूषिकोंके नेता ब्राह्मण थे और उन ब्राह्मणोंमें कुछ तपस्वी साधु भी थे, जिनमेंसे एकने सिकन्दरकी महत्वाकांक्षाका बेहद मखौल उड़ाया । उसने कहा—आखिर हम भी तुम्हारी ही तरह मनुष्य हैं, फ्रक बस इतना है कि जहाँ हम शान्तिपूर्वक अपने घरमें रहते हैं वहाँ तुम बौखलकी तरह अपना घर छोड़ दूर-दूर जाकर दूसरोंके काममें खलल डालते फिरते हो । आप भी तकलीफ़ बर्दाश्त करते हो, दूसरोंको भी तकलीफ़ देते हो, छिः !

सिकन्दर उस साधुका साहस देख दंग रह गया । और जब उसने उसकी हिम्मतको सराहा तब किसीने खबर दी कि यह तो क्या इस इलाके-में एकसे एक बेनज़ीर मुनी हैं जो क्रुदरतके सारे करिश्मे और उनके भेद जानते हैं । फिर क्या था, सिकन्दरने हुक्म दिया और प्रसिद्ध तपस्वी चुन कर पकड़ लिये गये । ऐसे ऋषियोंकी संख्या नौ थी, और दसवाँ वह था जिसने सिकन्दरको बौखल कहा था ।

सिकन्दरने उसकी ओर मुखातिब होकर कहा—“मैं इन दसों साधुओंसे एक-एक सवाल करूँगा, तुम सुनो और बताओ कि इनमें सबसे ज़्यादा हाज़िरजवाब कौन है । जो सबसे ज़्यादा हाज़िरजवाब होगा उसकी सबसे पहले और उसी सिलसिलेसे बाकियोंकी भी जान लूँगा ।”

साधु आसन मार जजकी जगह बैठ गया । एकके बाद एक साधु सिकन्दरके सामने आता गया, सिकन्दर उससे सवाल करता गया और वह जवाब देता गया । हर साधु नंगा था, साधु वे नंगे रहते ही थे । गजबका मुकाबिला था—एक ओर खल्कका मालिक सिकन्दर था, दूसरी ओर निहत्था

नंगा साधु, जिसके पास अपना कहनेको सिवा कमजोर जिस्मके और कुछ न था ।

सिकन्दरने एकसे पूछा—तुम्हारे विचारमें जीवित मनुष्योंकी संख्या अधिक है या मृत मनुष्योंकी ?

साधु बोला—जीवित मनुष्योंकी, क्योंकि मृत मर कर फिर रहते नहीं ।

सिकन्दरने दूसरेसे पूछा—जीव समुन्दरमे ज्यादा हैं या पृथ्वीपर ? साधुने उत्तर दिया—पृथ्वीपर, क्योंकि समुन्दर पृथ्वीका ही एक भाग है ।

सिकन्दरने तब तीसरे साधुसे पूछा—जानवरोंमे सबसे बुद्धिमान कौन है ?

तत्काल व्यंग्य भरा उत्तर मिला—वह, जो अब तक मनुष्यकी आँखसे अपनेको बचा सका है, जिसका पता मनुष्य अभी तक नहीं पा सका ।

सिकन्दरने चौथेसे पूछा—तुमने शंभुको बगावतके लिए क्यों उकसाया ?

साधु बोला—इसलिए कि मैं चाहता था कि यदि वह जीये तो इज्जतके साथ, मरे तो इज्जतके साथ ।

विजेताने फिर पाँचवें साधुसे पूछा—पहले क्या बनाया गया, दिन या रात ?

बेधड़क उत्तर मिला—दिन, रातसे एक दिन पहले ?

सिकन्दर कुछ समझ न सका, चकरा गया । भवोंपर बल डाल झल्लाया सा उसने पूछा—मतलब ?

“मतलब कि असम्भव प्रश्नोंका उत्तर भी असम्भव ही होता है ।” साधु बोला । सुननेवालोंने उसकी निर्भीकतापर दातों तले उँगली दबा ली ।

सिकन्दर कुछ हतप्रभ हो चला था । उसे लगा कि अपनी विजयोंके बावजूद वह कुछ ऐसोंके बीच खड़ा है जो हार कर भी उससे हारे नहीं

और नंगे होकर भी उसे तुच्छ समझते हैं। पामाल सा उसने छठे साधुसे पूछा—मनुष्य किस प्रकार दुनियाका प्यारा हो सकता है ?

साधु बोला—बहुत ताकतपर, पर साथ ही प्रजाका प्यारा होकर, जिससे प्रजा उससे डरे नहीं।

सिकन्दरने फिर सातवें साधुसे पूछा—मनुष्य देवता कैसे बन सकता है ?

साधुने उत्तर दिया—अमनुजकर्मा होकर।

डूबते सिकन्दरको जैसे सूखी जमीन मिली। क्योंकि वह स्वयं अमनुज-कर्मा था। अपनेको देवताओंका वशज वह मानता—कहता भी था। अब वह आठवें साधुकी ओर फिरा।

पूछा—जीवन और मृत्यु दोनोंमें अधिक बलवान कौन है ?

साधु बोला—जीवन, क्योंकि वह भयानकसे भयानक तकलीफ़ बर्दाश्त कर सकता है।

सिकन्दरने तब नौवें साधुसे पूछा—कबतक जीना इच्छतसे जीना है ?

उत्तर मिला—जबतक मनुष्य यह न सोचने लग जाय कि अब जीनेसे मर जाना अच्छा है।

जवाबोंका मारा सिकन्दर अब उस साधुकी ओर फिरा जिसे उसने जज बनाया था। उसने उससे पूछा—किसका उत्तर सबसे चुटौला है ?

साधु भला अपने भाइयोंकी जान कैसे ले सकता था ? उसने बड़ी युक्तिसे जबाब दिया—उत्तर एकसे एक बढ़कर है।

सिकन्दरने जब यह देखा कि जजका उत्तर स्वयं पहेली बन गया जिसकी गुत्थी स्वयं उसे सुलझानी होगी, तब वह झल्ला उठा और जजसे बोला—तुमने इतना अनुचित न्याय किया है कि सबसे पहले मैं तुम्हें ही यमलोक पठाऊँगा।

इसपर हँसता हुआ साधु बोला—राजन्, ऐसा करनेसे तुम झूठे साबित होगे । तुमने मुझसे पूछा था कि कौन उत्तर उत्तम है, मैंने कहा, उत्तर एकसे बढ़कर एक है । मतलब इसका यह है कि कोई जवाब किसीसे घट कर नहीं है । अब अगर तुम मुझे या इन्हें मारोगे तो स्वयं झूठे साबित होगे ।

साथके ग्रीक दार्शनिकोंने फिर तो सिकन्दरको लाचार कर दिया और उसने साधुओंको बंधनमुक्त कर दिया । साधु मुसकराते हुए जिधरसे आये थे उधर चले गये । न उन्हें दुख व्यापा न सुख ।

गज़नीका पण्डित

१

बुतशिकन महमूद मर चुका था। उसका बेटा मसूद गज़नीकी गद्दी पर आसीन था। बेटा जिस्मी क़बूतमें बापसे बड़कर था। शाहनामाका रुस्तम जैसे उसमें जी उठा था। उसकी एक चोटसे गजराज तिलमिला उठता, भैसा ऐंठ जाता। उसका जगी फरसा दूसरा कोई धुमा नहीं सकता था, उस ममूदका। और वही मसूद प्यालोंके दौरमें औरोंको जहाँ बेपर्द कर देता, अपनी अहमियत कायम रखता।

बैहाकी लिखता है, “मैं, अबुलफ़ज़ल, बयान करता हूँ वह नज़ारा जो मैंने अपनी आँखों देखा है।” बैहाकीने देखा—

अमीर (सुल्तान) जा बैठा फ़ीरोज़ी बाग़में हरे चन्दोबे तले सुनहरे तख़्तपर, तड़के ही। फ़ौजें सामनेसे गुज़रने लगीं। पहले शाहज़ादे मौदूदका सितारा निकला, फिर जिरहबख़्तर पहने, बरछे लिये, चाँदनी और झण्डे लिये शाही हरमके दो सौ गुलाम निकले, फिर घुड़सवार और साँड़नी-सवार, फिर झण्डे-सितारे लिये पैदल और उनकी अनगिनत क़तारें।

दोपहर हो चली। सुबहका नाश्ता कबका हो चुका था, अब शुरू हुआ दिनका वह जौहर फ़ीरोज़ी बाग़मे जिसके लिए सुल्तानकी सवारी आई थी। अमीरके चारों ओर उमरा बैठ गये। पचास सुराहियाँ शीराजी, दमिश्की, फिरंगी शराबसे भरी सामने रख दी गईं। मीना और प्याला लिये साक़ी खड़े हो गये। अमीरने ऐलान किया—“दिल खोलके पियें, बराबर वजनसे पियें, प्यालोंकी तादाद कम न हो, यारो, ईमानसे पियें !”

दौर चल पड़े प्यालोंके। नीले, सुर्ख, सब्ज़ प्यालोंके। आँखें लाल, चेहरे सुर्ख, अँगड़ाइयाँ, खुमारी। क़हक़होंके बीच मस्तीसे गाई ग़ज़लें। एक

दरबारी होग खो चला था। पाँच ऊँचे प्याले वह पी चुका था, छठेने उसे हिला दिया, सातवेंने बेसुध कर किया, आठवेंने नौकरोंके हवाले । शाही हकीम पाँचवेंके बाद ढेर हो गया, घर भेज दिया गया। स्याहबुर्जने नौ ढाले, खलील दाऊदने दस। अब्दुर्रज्जाक अकेला सुल्तान मसूदका साथ दिये जा रहा था। एक-एक कर सत्रह प्याले उसने गलेसे नीचे उतार दिये, अठ्ठारहवेंके बाद वह खड़ा हो गया। बोला—‘जहाँपनाह, गुलामका दौर जो जारी रहा तो गुलाम दोनों खो बैठेगा—अक़ल भी, अदब भी।’

सुल्तानने मुसकरा कर उसे रुखसत किया। पर खुद उसने हाथ न खींचा। अट्ठारहसे बीस हुए, बीससे बाईस, बाईससे चौबीस। मसूदके हाथ सत्ताईस प्यालोंके बाद जाकर रुके, जब उसने इशारेसे साक्रीको रोक दिया। सूरज उठा था, देखते ही देखते आसमानकी चोटीपर चढ़ एक बार हैरतमें थम गया था, फिर पच्छुमी पहाड़ोंके पीछे ढल चला था।

जिस्ममें कहीं बेबसी न थी, पेशानीपर एक बल न था। सुरमई आँखोंकी सफ़ेदीमें ढलता सूरज उतर आया था, नीले डोरे हल्के लाल हो चले थे। जैसे एक बूँद न छुई हो। पानी मँगाया, जॉनमाज मँगाया। वजू किया, दूर-दुपहरी और गुज़रती शामकी नमाज एक साथ अदा की। चुपचाप हाथीपर चढ़ा और महलोंकी ओर चल पड़ा।

२

१०३३ ईस्वीका जमाना था, पंजाबपर अहमद नियाल्तगिन काबिज़ था, मसूदका गवर्नर। नियाल्तगिन बेचैन बेखौफ़ आदमी था, और जब वह सुल्तानकी पहुँचसे दूर, उसकी नज़रोंसे दूर, बाजोर और लमगानसे परे पंजाबके अपने इलाकेमें होता तब तो वह बिल्कुल ही बेखौफ़ हो जाता, बिधाताकी तरह बनाने-बिगाड़नेवाला। गुजरे सुल्तान महमूदकी हरावलमें हिन्दुस्तानके प्रान्तोंपर वह धावे-पर-धावा कर चुका था, उनकी लूट और लूटसे पाई दौलत उसकी जानी थी। उसके अपने सपने थे और उन सपनों-

मे उसके अरमान इस क्रूर पेंग मारते कि एक दिन उसने सहसा कूदकर घोड़ेकी रिकाबमे पैर डाले और उसकी बाग पूरबकी ओर कर दी ।

नियाल्लगिनने गजनीके सुल्तानके खिलाफ यह बग़ावत की थी, क्योंकि सालों पहले, महमूदके गुज़रते ही, नये सुल्तानने फ़रमान निकाल दिया था कि साम्राज्यके प्रान्तोका कोई गवर्नर साम्राज्यके बाहर बग़ैर सुल्तानके हुक्मके हमला न करेगा । गजनी और भारतकी सरहदके गवर्नर लूटकी हविस लिये हिन्दुस्तानके नगरोंपर हसरतभरी प्यासी निगाहे डालते रहे थे, पर उनके घोड़ोंकी रास खिंची थी, क्योंकि सुल्तानका डर बड़ा था, अरमानोंके सच करनेकी हबिससे कहीं बड़ा । और हिन्दुस्तान पर धावे रहे, बाजोंके चंगुलसे उसके नगर बचे रहे, बाज यद्यपि उनके दूरके आसमानमें मँडराते रहे ।

पर यह नियाल्लगिन था, मन्गद-नन्गुन्गी तरहका ही जवाँमर्द तुर्क, और उसने जो पूरबकी ओर अपने घोड़ेका रुख फेरा तो उसकेसे ही जवाँमर्द बफ़ादार रिसाले उसके पीछे दौड़ पड़े । पूरबकी ओर, और पूरब; व्यास पार सतलज और जमुना पार । दिल्ली और कन्नौज पीछे छूट गये, उजड़ी मथुरा भी छूटी, उजड़े नगरोंमें सब कुछ लुटकर भी अभी बहुत कुछ बचा था, पर उनकी ओर नियाल्लगिनका रुख न फिरा, वहाँ उसने मंज़िल न की, उनके बीच दरकी छातीके बीचसे चीरती चली गई छुरीकी तरह वह उन्हें चीरता पूरब निकल गया । गंगा-जमुनाके संगमपर तीरथराज प्रयाग बसा था पर उसका वैभव उसका इष्ट न था । वह और पूरब बढ़ा, अपनी मंज़िलकी ओर ।

मंजिल उसकी काशी थी, तुर्कोंके ज़बानमे बनारस, जहाँके मन्दिरोंमें सोना बरसता था, सदियों बरसता रहा था, बिल्कुल अछूता, और जहाँ महमूदके बावजूद कोई मुसलमान अबतक न पहुँचा था । विजयी गाज़ी और कुरबान शहीदके परेके अरमान साधने वाला नियाल्लगिन जब बनारस पहुँचा तब उसपर कलचुरियोंका राज था । गागेयदेव और लक्ष्मीकर्ण,

पिता-पुत्र, दोनों जीवित थे, दोनोंकी कीरत उत्तरापथके चन्देलों और परमारोंके साथ लिखी जाती थी। सोलकियोंके डूबे सूरजपर परमारों और कलचुरियोंका चाँद उठ चला था।

पर नियाल्लगिनके रिसालोंकी उठती धूलने चाँदके ऊपर घना पर्दा डाल दिया और बनारसकी सड़कोंपर सहसा अँधेरा छा गया। सच पूछो तो दिनकी रात हो गई। घाटोंसे नहा कर आते लोग हमलावरके घोड़ेसे टकरा कर टूट गये, मन्दिरोंके कपाट सहसा बन्द हो गये। निरन्तर उनकी देहलीमें बजते रहने वाले घण्टे चुप हो गये, हरहर महादेवकी गूँज एकाएक बन्द हो गई, वैसे ही जैसे नागरिकोंके महलोंके कपाट भी बन्द हो गये। पर बन्द कपाटोंसे लूटनेवालोंकी बाढ़ कब रुकी? मन्दिर और महल लुट गये। सड़कोंपर, भवनोंके आँगनोंमें, घाटोंपर, लाशोंके अम्बार खड़े हो गये। और जबतक नागरिकोंको होश आया, नगरके रक्षकों और कोतवालने कलचुरियोंकी काशीकी छावनीको आगाह किया तबतक नियाल्लगिनके रिसाले अपने हजार-हजार साडिनियोंपर बनारसका सदियोंका सोना लादे दूर पच्छिम निकल गये। गांगेयदेव और उसका बेटा लक्ष्मीकर्ण उत्तरकी ओर बढ़े, काशीकी ओर, चन्देलोंने अपने घोड़े सम्हाले, राजा भोज अपनी धारासे निकला, तबतक नियाल्लगिन प्रयाग, कन्नौज, मथुरा और दिल्ली लाँघ चुका था, लाहौरमें था।

पर यह बशावत थी। सुल्तानके खिलाफ़ बगावत। गजनीके अधिकारसे बगावत। और सुल्तान मसूद, जो अरने भैसेको एड़ मार गिरा सकता था, गजराजको पछाड़ सकता था, नियाल्लगिनकी इस जुर्रतको तरह देनेवाला आदमी न था। अपने वज़ीर अब्दुर्रज़ाकको उसने तलब किया। उसके आते ही हुक्म दिया—भेजो फ़ौजें लाहौर, मुझे सर चाहिए दीवानेका, बदकार बाग़ोंका।

और, वज़ीर चुपचाप चला गया था, हुक्म बजा लाने।

३

पर हुक्म बजा लाना कुछ आसान न था, अब्दुर्रज्जाककी सूझ-बूझके बावजूद। फ़ौजें गई, आजमाये सिपहसालार गये, जाँवाज खूनी दस्ते गये, पर न लाहौर सर हुआ, न उसका हाकिम। वजीर पामाल था, सुल्तान जैसे जिच।

सुल्तानने वजीरको फिर बुला भेजा, कहा, 'अब मैं खुद लाहौरकी ओर कूच कर्हंगा, क्योंकि देखता हूँ गजनीमें अब फ़रशानाके मर्द न रहे, कि अब हिन्दुकुशकी सफ़ेद बर्फ़पर शैतानका साया पड़ा है।'।

वजीर सकतेमें आ गया, बोला—'जहाँपनाह, कुर्दिस्तान ख़तरेमें है, ईरान करवट ले रहा है, इराक जाने कब खड़ा हो उठे, बलख और बुखारा उजबक रिसालोंके पैरों तले कसमसा रहे हैं, सुल्तान-आजम गजनी नहीं छोड़ सकते। सब्र करें, मालिक, दस्तबस्ता अर्ज कर रहा हूँ, इस पगड़ीकी लाज रखें वरना बुढ़ापेमें मेरी वज़ारतको कालिख लग जायेगी।' और वजीरने पगड़ी उतार कर सुल्तानके क़दमोंमें रख दी।

सुल्तान चुप हो रहा और वजीर नये क़ौलके साथ अपने महलों वापस चला गया।

एक गोरा गुलाम दिनोंसे सुल्तान और उससे ज़्यादा अपने मालिक वजीर अब्दुर्रज्जाकके दिलोदिमाग़का हाल चुपचाप देखता रहा था, नये ख़तरेका अन्दाज़ करता रहा था। उनकी एक-एक हरकतपर उसकी नज़र थी, और अपने मालिककी पेशानीका एक-एक बल उसकी निगाहका जाना था। वह कश्मीरका पण्डित था, तिलक। दुनियाकी मक्कारी, कहते हैं, दो हिस्सोंमें बँट गई थी, एक हिस्सा समूची दुनियाके पल्ले पड़ा दूसरा समूचा हिस्सा अकेले तिलकके पल्ले। ग़जबका धूर्त था तिलक, हरफ़नमौला। जानी दुई दुनियाकी कोई ज़बान न थी जो वह न जाने, जो वह बोल न सके। और स्वाभाविक ही मालिकने नज़र उसपर डाली, लाचार नज़र।

तिलक जैसे उसी नज़रके इन्तजारमें दिनों साँस रोके बैठा था। जमीन तक झुककर उसने आदाब बजाया, बोला—‘इर्शाद, मेरे आका !’

‘जानता तो है, तिलक, तू मेरे मनकी गाँठ। बता तो सही किसपर एतबार करूँ, किसे यह काम सौंपू। सुल्तानने आज दस्तरखानसे भी हाथ खींच लिया। कहते हैं, मेज़पर जब नियाल्तगिनका सर होगा तभी अब वे दस्तरखानको लौटेंगे। सुल्तानकी जान जोखिममें है, तिलक, मेरी सारी लियाक़तपर पानी फिरा चाहता है। बता मेरे अक्लमन्द दोस्त, किसे लाहौर भेजूँ ?’ वजीर बोला।

‘मुझे, मेरे मालिक !’

‘तुझे ?’ वजीर एक बार हँसा, फिर सहसा उसकी आकृति गम्भीर हो उठी। वह फिर बोला, ‘तुझे, हाँ, तुझे। तू शायद इसे सर कर आये, क्योंकि तलवारें अब टूट चुकी हैं, और जहाँ तलवारें टूट चुकी हैं, मुमकिन है वहाँ दिमाग़ कामयाब हो जाय। जाओ, गज़नीके खजानेकी यह कुंजी है, गज़नीके सिपहसालारोको यह हुक्मनामा है, ले लो, जाओ। इस सफ़ेद बेदाग़ दाढ़ी पर मरते दम नाक़ामयाबीका धब्बा न कहीं लग जाय, ख़बरदार !’

और वह पाँच फ़ुट पाँच इंचका मझोले क़दका इन्सान मुजरा करता चुपचाप वजीरके सामनेसे चला गया।

दो घण्टे बाद सुल्तानके हज़ूरमें खड़े हो वजीरने दस्तबस्ता कहा, ‘जहाँपनाह, खातिरजमा रखें, मुनासिब कन्धों पर भार डाला है, मुनासिब हाथोंने बीड़ा उठाया है। काम सर होकर रहेगा।’

सुल्तान की बेरौनक़ आँखें ऊपर उठीं, जैसे चुपचाप पूछा—‘कौन है वह ज़र्वाँमर्द जिसने हुक्म बजा लेनेका बीड़ा उठाया है ?’

‘तिलक।’ वजीर बोला।

‘जोरसे हँसीका फ़ौआरा फूटा, व्यंग्यकी हँसीका। और हँसी यह

मसूदकी थी। महलकी दीवारें तक हिल गईं, वजीरका तिरस्कार करतीं, जैसे उन्होंने उसकी ही आवाज़ दुहराई—‘तिलक ?’

‘हाँ, तिलक !’ वजीरने जैसे आँखोंके सवालकी ही जबाबके तौर पर प्रतिध्वनि की—‘आलमगीर, सत्तर सालका यह बूढ़ा अपने मालिकके इस सदमेके वक़्त मज़ाक नहीं करता। पर ज़रूर दो दिनकी मुहलत दें, दस्तर-खानको आबरू दें। जहाँपनाहके इक़बालसे काम फ़तह हो जायगा।’

‘मसूदका क़ौल मज़ाक नहीं है, वजीर, पर तुम्हारे इत्तजाम पर भरोसा करता हूँ। खाना तो मेरा तभी होगा जब बागीका सर मेरे सामने होगा।’ सुल्तान बोला।

×

×

×

नियालतगिन सिध पार कर हमलेके अदेशेमे गजनीकी राहका नाकानाका रोके पड़ा था। तिलक चंद साथियोंके साथ उसकी फ़ौज़में खो गया। एक-एक घण्टा उसके लिए क़ीमत रखता था, एक-एक लमहा उसकी जानपर हावी था। तेज़ीसे वह अपना मक़सद हल करने लगा। काबुली रुपये जाटोंमें चुपचाप बँट गये, रातों-रात घक्खरोंने लाहौरके हाकिमके सरका सौदा कर लिया। रातों ही रात लाहौरके हाकिमकी फ़ौजोंके पड़ावके बीचसे, खुद उसके तम्बूसे, नियालतगिन ग़ायब हो गया।

तीसरे दिन तीसरे वक़्त जब वजीरने सुल्तानके सामने हँसते हुए कहा, ‘जहाँपनाह, दस्तरखानको बारूतबा करें, बागीका सर मेज़ पर है।’ तब सुल्तानको यक़ीन न हुआ।

पर सुल्तान उठा; दरबारके साथ दस्तरखानके पास जा पहुँचा। मेज़ पर नियालतगिनका सर सोनेकी थालमे परसा पड़ा था। दरबारियोंके कण्ठसे एक साथ आवाज़ उठी—‘अल्लाहो अकबर !’

सुल्तानने जब वजीरकी ओर अपनी एहसानमंद आँखें उठाईं तब देखा, वजीरकी आँखें भरी हुई थीं।

‘शुक्रगुज़ार हूँ, वजीर !’ सुल्तान बोला।

‘अब्दुर्रज़्जाक जहाँपनाहका बदा है, गरीबपरवर, खुद शुक्रगुज़ार इस हिंदू गुलामका !’ वजीर बोला और खभेकी आड़से तिलकको खीचकर उसने सुल्तान और दरबारके सामने कर दिया ।

तिलकके होंठ कोरनिसमे ज़मीन चूम रहे थे, पर सिर उठाते ही उसकी आँखें लमहे भरको सुल्तानकी उन आँखोसे मिलीं जो एहसानके नूर-से रोशन थीं ।

मुसकराते हुए सुल्तानके मुँहसे धीरेसे निकल पड़ा—‘अव्वल अफ-गान.....!’

और दरबारियोंने ईरानियोंकी वह कहावत पूरी कर दी जिसको क़लमसे लिखा नहीं जा सकता । सुल्तानके ठहाकेकी प्रतिध्वनि दरबारियोंके कण्ठसे फूटी और महलकी दीवारें हिल उठीं ।

कश्मीरी पण्डित गज़नीके वजीर आज़म अब्दुर्रज़्जाकके प्राइवेट सेक्रेटरी तिलकके चेहरेपर बस ख़ामोशी थी, उसकी चिंदी आँखें ज़रा और सिकुड़ गई थीं ।

दाहिर-कुमारियोंका ब्रदला

वह पहला जौहर था। राजपूत नारियोंकी वीरता और बलिदानका प्रतीक। वह जौहर बार-बार इस देशमें रचा गया। बार-बार आगकी उन लपेटोंने आसमान चूमा जिनके ईधनमें इन्सानकी देह मिली थी, पर जिनमें आनके लिए जलते हुए भी उसने उफ़ नहीं की। हम जिस जौहरकी बात कहने जा रहे हैं वह राजपूती जौहरसे पहलेका है जिसे ब्राह्मणीने रचा।

बात पुरानी है, सन् ७१२ ईसवीकी। अरबमें अस्सी वर्ष पहले जो चिनगारी चमकी थी उसने अब तक दावाग्निका रूप धारण कर लिया था। समरकन्द और काशगरसे स्पेनके अलहमरा तक, तातारीसे मिस्र तक इस्लामका नया साम्राज्य क़ायम हो चुका था। उसी सिलसिलेमें भारतपर भी चढ़ाई हुई थी।

खिलाफ़त उमैया खानदानकी थी, अल हज्जाज खल्दका गवर्नर था और भारत खल्दसे ही लगा हुआ समझा जाता था। खल्द सिन्धु सभ्यताके दिनोंसे ही, हजारों सालसे, भारतका पड़ोसी राज्य रहा था—खल्द, एलाम, विलोचिस्तान, सिन्ध—एक सिलसिला। मुमकिन न था कि अल हज्जाज-के-से साम्राज्यवादीको पासका यह ऋद्ध देश न दीखता।

अपने भतीजे मुहम्मद इब्न कासिमको उसने सेना देकर भारत भेजा। सत्रह सालके मुहम्मदने गज़बका हौसला दिखाया। देवलकी लड़ाई उसने घण्टोंमें जीत ली। और तभी राजा दाहिरकी बहनने महलकी रानियों और दूसरी नारियोंको इकट्ठा किया। दुश्मनके हाथमे पड़नेका मतलब था, दीन, ईमान सब कुछ खोना। राह बस एक थी, सामनेकी लपेटोंमें समा जाना।

चिता धीरे-धीरे ऊपर उठती जाती थी। उसकी सुनहरी लपटोंसे चन्दनकी गन्ध उठ-उठ हवामे पसर रही थी। महलकी सम्पदा, उसके बहुमूल्य सामान, रेशम किमखाब सब उसमें भस्म होते जा रहे थे। पश्चिमकी दुनिया—एशिया, मिस्र और यूरोप—से जल और थलकी राह आई व्यापारकी सारी अनोखी चीजें जली जा रही थीं।

राजाकी बहन उठी। उसकी सुनहरी कायापर जैसे मदनने झण्डा फहराया था। उसके रूपपर आँख नहीं टिकती थी। अभिराम सिंगार उसने किया था। उन सबने भी, जो उसके पीछे कतारमें खड़ी थी। वह आगे बढ़ी, पूरी कतार शालीनतासे हिली, मन्त्र पढते ब्राह्मणोंके पाससे निकली, चिताकी परिक्रमा की और चितापर चढ़ गई। किसीने ललाटपर बल न आने दिया। अग्निकी लाल ज्वालामें सभी राख हो गईं। सतीत्वकी रक्षामें वह पहला बलिदान था।

पर उस चितासे दो कुमारियाँ 'अलग अलग रहीं। दोनों बहनें थीं; राजा दाहिरकी बेटियाँ। उन्होने साथियोंके व्यंग सुने, धिक्कार सुने, पर रोष न किया, चुपचाप वे देवलसे बाहर निकल गईं।

×

×

×

उन्हें हमलावरोसे बदला लेना था। कुछ अजब नहीं कि अगले मोर्चे भारतके पक्षमें उतर जायँ, इससे वे मोर्चा-मोर्चा अरब सेनाओंके साथ चलीं, छिपीं-छिपीं। पहले बहमनाबाद, फिर मुलतान।

अरबोंने क्रिस्तियोंके पुलसे सिन्धुको पार कर लिया। सामने खड़ी तीरकी बरसाती सेना उन्हें रोक न सकी। अगली लड़ाई फिर जमकर हुई, पर क्रिस्मत उल्टी थी। नप्या अग्निवाणोंने हौदोंमें आग लगा दी। उनकी चमकसे हाथी भाग चले। महलमें लड़ता राजा दाहिर खेत रहा। मुलतान-पर अरबोंका अधिकार हो गया। राजकुमारियोंकी आशा धूलमें मिल गई। अब बस एक साध रह गई थी, बदलेकी।

मुहम्मद कासिमने इस्लामके उसूलोंके मुताबिक नई रिआयासे बरताव किया ।* उसने ब्राह्मणोंको बुलाकर लगानकी वसूली उनके ज़िम्मे की और ऐलान किया कि हिन्दुओंके मन्दिर उसी तरह पाक समझे जायेंगे जिस तरह ईसाइयोंके गिरजे, यहूदियोंके मन्दिर और मर्गोंकी पूजा-वेदियाँ । अपने अहलकारोंको बुलाकर उसने कहा—“रिआया और हाकिमके बीच ईमानदारी बरतो । अगर मिलिकयत वाँटनी हो तो बराबर-बराबर वाँटो और लगानकी दर अदा करनेकी कुब्वतके मुताबिक तै करो । आपसमें मेल रखो, लड़ो नहीं, जिससे मुल्कमें अमन क़ायम रहे ।”

ऐलान मुनासिब था । रिआयाके रवैयेमें फ़र्क नहीं पड़ा । पर राज-कुमारियोंका मन उससे शान्त न हुआ । उन्होंने अपना राज बिलटते देखा, देशके नगर एकके बाद एक सर होते देखे, बतनपर विदेशी हुकूमत क़ायम होते देखी, अपनी बुआ और सहेलियोंको चिता चढ़ते देखा, पिताको आज़ादीके लिए तलवारकी भेंट चढ़ते देखा । उनके सभी कोमल धागे टूट गये थे, सभी नाते छिन्न-भिन्न हो गये थे ।

मुहम्मद सुकुमार था, सुन्दर और वीर । मुल्कको उसने बरबाद भी नहीं किया । पर था तो बतनकी आज़ादीका दुश्मन । कुमारियोंको देशके शत्रुओंसे बदला लेना था और उन शत्रुओंका प्रतीक था मुहम्मद । कुमारियोंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया ।

उन्होंने अपने दूत दमिश्क भेजे और उनके देशसे बाहर जाते ही अपनेको पकड़वा दिया । बग़ावतकी साजिश करती वे पकड़ ली गईं और क़िल्लेके भीतर कैद कर दी गईं ।

दूत दूर दमिश्क पहुँचे खलीफ़ाके दरबारमें, मंजिलपर मंजिल मारते । खलीफ़ासे उन्होंने कहा—हम राजा दाहिरकी कन्याओंकी ओरसे आये हैं । उन्हें इब्न कासिमने अपने हरममें डाल लिया है, और उनके हज़ार कहनेपर भी दमिश्कके हुज़ूरमें भेजनेको तैय्यार नहीं ।

खलीफ़ाको नाचीज़ मुहम्मदकी ज़ुरत देख बड़ा गुस्सा आया । उसने

अपने दूत सिन्ध भेजे, इस हुक्मके साथ कि हाकिम चमड़ेमें सीकर दमिश्क भेज दिया जाय । दूत सिन्ध पहुँचे । अरब सेनापतियोंको इकट्ठा कर उन्होंने खलीफाका हुक्म उन्हें पढ़ सुनाया । खौफ और दर्दकी लहर उनके जिस्ममें दौड़ गई पर जो हुक्म आया था उसका कोई इलाज नहीं था, उसे बजा लाना ही फ़र्ज था ।

मुहम्मद भरी जवानीमें चमड़ेके खोलमें घुसा । खोल सी दिया गया । फिर दाहिरकी बेटियोंके साथ सिला हुआ चमड़ेका वह खोल दमिश्क पहुँचा और दिनों बाद जब वह वहाँ खोला गया तब घुटता दम सहसा टूट गया । सिन्धी तरणियोंने वह हत्या देखी जो उन्हींकी साजिशका नतीजा था । पर उन्हें अफ़सोस न हुआ । उन्होंने मुल्कको सर होते देखा था, पिताको बलिदान होते, बुआको जवानीमें हजारों रूपवती और कच्ची उम्रकी कन्याओंके साथ चिता चढ़ते । उनकी तौलमें दुश्मनकी सारी सजाएँ हलकी थीं ।

×

×

×

और अब उनकी क़ुरबानीकी बारी थी । उनका सतीत्व बेदाग़ बचा था । पर अब उसका बच रहना मुश्किल था । उन्होंने तब खलीफ़ाको कहलाया कि मुहम्मदपर उनका इलज़ाम झूठा था, मुहम्मद बेगुनाह था, गो उनके बदलेका सही हक़दार था ।

खलीफ़ा गुस्सेसे जल उठा । इन्साफ़की कोई सज़ा इस क़सूरके लिए उसने काफ़ी नहीं समझी । तब उसने बदलेका सहारा लिया । हुक्म दिया कि उन सिन्धी लड़कियोंको घोड़ोंकी पूँछसे बाँध दिया जाय और सवार उनपर बैठकर दमिश्ककी सड़कोंपर सरपट भागें ।

दमिश्ककी सड़कोंपर जब घोड़ोंपर बैठ सवार भागे तब उनकी पूँछसे दाहिरकी बेटियाँ बँधी थीं । ख़िलाफ़तकी राजधानी बड़ी थी । लोग बेशुमार उन सड़कोंपर खड़े थे । उन्होंने सुकुमार कमनीय तरणियोंके बदलेका क्रिस्ता सुना था, अब उनके कुचले रौंदे शरीरको टूटते-बिखरते देखा ।

जब नारीके उत्कर्षका

पहला सितारा डूब गया !

एशिया और अफ्रीकाके इतिहासमें तेरहवीं सदी बड़े मार्केकी है। उसने दो विशेष उपेक्षित वर्गों—गुलाम और नारी—को अपने निम्न आधारसे उठते और शक्तिके शिखरपर चढ़ते देखा। सर्वत्र गुलाम विजयी हुए—मिस्रमें, मध्य एशियामें, हिन्दुस्तानमें। गुलाम बादशाहत गुलामकी सफलताका सबूत है, क्योंकि वह अपनी ताकत और लियाक़तसे ऊँचा चढ़ता है। सुलतानके अभिजात बेटेका लायक हो जाना असाधारण घटना है, गुलामका उत्कर्ष केवल गुणोंकी विजय है।

और इसी प्रकार नारीका उत्कर्ष भी गुणोंकी सफलताका सबूत है, पक्षपातका नहीं; क्योंकि जिस प्रकार गुलामोंका स्वाभाविक स्तर नीचे है, नारीका भी प्रकृत स्थान नीचे ही इतिहासमें रहा है। सबने उसे दबाया है, उठाया उसे केवल उसके अपने गुणोंने है। जिस प्रकार तेरहवीं सदीमें गुलामोंमें एक अनोखी स्फूर्ति आई जिसने उन्हें सल्तनतोंकी मूर्धापर जा बैठाया, उसी प्रकार नारीने भी—और अधिकतर ऐसी स्वयं गुलाम या गुलाम खानदानकी थीं—अपने बन्धन तोड़कर ऊपर उठनेका प्रयत्न किया।

इनमें एक तो मिस्रके मामलुक तुर्कोंकी लड़की थी, खुद गुलाम, जिसने अपनी दिलेरी और अत्रलसे, अपने अधिकारसे उस प्राचीन देशकी सल्तनतकी रास हाथोंमें ली थी। इतिहासप्रसिद्ध सुलतान सलादीनके पोतेकी वह पत्नी थी जिसका नाम—शजरुद्द्वार—इतिहासमें अमर हो गया है। उसने क्रूसेडों (जुहसलम लेनेके लिए ईसाई राष्ट्रोंकी पश्चिमी एशियामें तुर्कोंसे लड़ाई) में फ्रांसके राजा नवम लुईको हराकर कैद कर

लिया था। किस तरह उसने घोड़ेपर चढ़कर सेनाका संचालन किया था, वह रोमाञ्चक इतिहासकी कहानी है। दूसरी महिला-विभूति थी फ़ारस की रानी, उस राज-परिवारकी आखिरी औलाद जिसने शेख़ सादीको अपनी संरक्षा दी थी। जब मंगोलोंकी 'खुदाई चाबुक'से धरा थरथराती थी, जब उनकी धमक सबसे अधिक मध्य एशियाके मैदानोंमें सुन पड़ती थी, ठीक तभी इस ग़ज़बकी अक्लमन्द रानीने फ़ारसपर प्रायः चौथाई सदी राज किया था। तीसरी थी रज़िया, गुलाम अल्तमशकी बेटी, हिन्दुस्तान की मलका—तीनोंमें बदक्रिस्मत।

कुरान और हदीसोंकी हिदायत है कि औरत तख़्तनशीं न हो, आदमी उसे अपना मार्गदर्शक न बनाये। इससे तब, जब कि इस्लामका सारे एशियापर बोलबाला था, नारीका सामने या तख़्तपर आना गुलामकी ही तरह ताक़त और अक्लका सबूत था। रज़ियामें अपने समकालीन अभिजात या गुलाम मर्दसे कम अक्ल न थी।

उसका बाप अल्तमश तो उसके सारे भाइयोंको नालायक़ और फ़क़त उसे क़ाबिल मानता था। जब उसने अपने सरदारोंके सामने अपनी वसीयत रखी, अपने उत्तराधिकारकी घोषणा की तब मर्दोंपर एक सदमा छा गया, क्योंकि उसने अपनी सल्तनतका वारिस रज़ियाको बनाया था। मर्दोंके नाक-भौं सिकोड़नेपर उसने कहा—“मेरे बेटे जवानीके लुफ़्त उठा रहे हैं। उनमें कोई सल्तनतका काम अंजाम देने लायक़ नहीं। बस रज़िया ही वह भार उठा सकती है।”

रज़ियाने उठाया वह भार। अल्तमश उसे नज़ीरुद्दीन कहकर पुकारता था। रज़िया अपने भाइयोंके निकम्मे साबित हो जानेके बाद दिल्लीके तख़्तपर बैठी। भाइयोंके निकम्मेपनने बापकी आधी बात सच्ची कर दी। आगे अब उसकी उम्मीदोंका इम्तहान था।

दिल्लीके तख़्तपर अभी तक औरत न बैठी थी। रज़िया पहली औरत थी जिसने राजदण्ड धारण किया। उसने मर्दका लिबास पहना, अपनेको

‘रजिया सुलतान’ कहा, मुँह खोले वह दरबारमें बैठी, मर्दकी तरह हाथी पर चढ़ उसने सेनाका संचालन किया। ज़माना हैरतमें था। कोई काम नहीं जिसे वह अंजाम न दे सके, कोई इंसाफ़ नहीं जिसे वह न कर सके।

पर क़ुरान और हदीसोंके क़लाम क्या काफ़ी न थे ? लोहेको लोहेने काटा। खुद गुलाम उसके दुश्मन हो गये, ‘गुलाम मर्द’। अल्तमश और उसका पूर्ववर्ती सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक दोनों पहले गुलाम रहे, अल्तमशने चालीस शक्तिमान गुलामोंका सगठन कर लिया था। इस संगठनका नाम ही ‘चालीस’ पड़ गया था। देशकी सारी शासन-शक्ति, सारी दौलत सिमटकर इनके ही हाथमें चली आई थी। अल्तमशके मरनेके बादकी अराजकतामें, उसके बेटोंकी बुज्जदिली और कमअक्लीके समय तो इनकी शक्ति और भी बढ़ गई थी। रजिया जब गद्दीपर बैठी तब सभी तरहसे ‘चालीस’ सल्तनतके मालिक थे।

रजियाने हुकूमत बड़ी क़ाबलियतसे शुरू की। उसकी हिम्मत देख बड़े-बड़ोंके छक्के छूट जाते। इंसाफ़ उसका इकता था। दीनकी वह लामिसाल सेविका थी। दुर्गुण उसमें बस एक था, जो उसके हाथकी बात न थी—वह औरत थी। औरतकी हुकूमत किसीको पसन्द न थी, न हिन्दूको न मुसलमानको, न अभिजातको न गुलामको। सभीने इस बातका एक स्वरसे विरोध किया।

रजिया हुकूमतपर डटी रही। उसने विशेष नीतिसे काम लेना चाहा, पर वही उसके नाशका कारण बन गई। चालीसों गुलामोंमें एक अबीसीनियाका हब्शी था—याकूत। उसपर रजियाकी विशेष नज़र हो गई। उसकी सलाहसे उसने हुकूमत करनी शुरू की। पता नहीं उसका उससे कैसा सम्बन्ध था ! सम्बन्ध चाहे जैसा भी रहा हो, वह बाक़ी गुलामोंको सह्य न हो सका। वे बगावत कर बैठे।

रजियाने पहले तो उनका सामना किया। तलवार लेकर वह मैदानमें

उतर पड़ी । लोहेसे लोहा बजा । पर जीत दुश्मनोंकी हुई । अलतुनियाँने उसे क्रैद कर लिया ।

पर रजिया दम रहते हिम्मत हारनेवाली औरत न थी । जब ताक़त बेकार हो गई तब उसने नीतिसे काम लिया । उसने अपने विजयीको अपनी निगाहोंका क्रैदी बना लिया । अलतुनियाँने प्रेमीके रूपमें उसके आगे घुटने टेक दिये, तलवार रख दी । रजिया फिर दिल्लीपर चढ़ चली, अपने शौहर अलतुनियाँके साथ ।

पर अब तक उसका भाई बहराम सरदारोंकी मददसे तख़्तपर बैठ चुका था । तख़्तपर बैठ जाना अनेक मुश्किलें आसान कर लेना है । ताक़तसे, रुपयेसे, रुतबेसे लोग जीते जा सकते हैं । रजियाको हारकर अलतुनियाँके साथ जंगलकी राह लेनी पड़ी और वहीं पकड़कर दुश्मनोंने दोनोंको मार डाला । नारीके उत्कर्षका पहला सितारा जूब गया !

ग़ज़बकी अक्ल पाई है तुमने, बीरबल !

बंगालने वसावत की थी । बराबर करता रहा था । अकबर उसे दबा-कर पटनेकी राह लौटा । इलाहाबादमें अगला पड़ाव पड़ा । क्वारका महीना था, शरदकी पूनो थी, दूधकी धोयी रात । बादशाह गंगा-जमुनाके संगमपर आ खड़ा हुआ । पहली बार वह संगम आया था । उसकी महिमा उसने सुनी हज़ार ज़बानोसे थी, पर देखा उसे एक बार भी न था ।

घोड़े, हाथी, पालकी और मुखपाल जमुनाके किनारे दूर तक फैले खड़े थे । शाही सन्तरी कतारोंमें खड़े बादशाहकी हिफ़ाज़तमें तत्पर थे । राजे-महाराजे, अमीर-मुसाहिब, सूबेदार-सरदार साथ थे । सबको लगा, बादशाह संगमकी खूबसूरतीसे मोह गया है । सही मोह गया था बादशाह । पर चुप था—वह ऐसा, जैसा ऐसे मौकोंपर वह कभी नहीं रहा करता था ।

‘जहाँपनाह’, बैरमके बेटे कवि रहीम खानखानाने कहा, ‘रात सँवरकर उतरी है । चाँद नीले समन्दरमें तैरता जा रहा है’...’ बादशाहने हल्केसे हाथ उठाकर उसे चुप कर दिया, कुछ गम्भीर आवाज़में बोला भी, ‘ठहरो, शायर ।’

शायर चुप हो रहा । मुसाहिब कुछ हिले, पीछे हटे । जाना, संगमकी खूबसूरतीसे दूर कहीं बादशाहकी नज़र भटक गई है । आवाज़ें रुक गईं । खामोशी गहरी हो गई । आँखें मिलतीं, जैसे मतलब भरी बातें कहतीं, नीचे झुक जातीं, दूर संगम पार क्षितिजपर जा लगतीं ।

और बादशाह चुप था । सहसा वह हिला, अमीरोंकी भोड़ भी हिली, लोग पीछे सरके ।

‘नादिर !’ बादशाहने कन्धेपर सिर जरा मोड़ धीरेसे पकारा ।

‘आलमगीर, बन्दा हाज़िर है’, जागीरोके हाकिमने झुककर सलाम किया ।

‘आस-पासकी मिल्कियतकी देखभाल कौन करता है ?’

‘झूँसीका राजा, जहाँपनाह, शिवबरनसिंह ।’ नादिर फिर झुका ।

‘कहाँ है, झूँसी ? राजा क्या है यहाँ ?’

‘झूँसी सामने है, जहाँपनाह, गंगा पार ।’

नादिरने तभी पीछे हटकर मजीद ईरानीकी ओर देखा जो बादशाहके हुज़ूरमें पहलेसे ही झुका हुआ कुछ कहना चाहता था ।

वह बोला, ‘दरबारका हुक्म था, आलीजाह, कि यहाँ पहुँच और पड़ावकी खबर किसीको न हो । इसीसे राहके राजे इस्तक़बालमें हाज़िर न हो सके ।’

‘झूँसीके राजाको खबर करो, सूरज निकलनेसे पहले रुबरू हो ।’

‘जो हुक्म, जहाँपनाह ।’

बादशाह पड़ावको लौट पड़ा । उसने मुद्रा बदल दी । मुसकुराता, बात करता सुखपालमें जा बैठा ।

झूँसीका राजा पैग़ाम पा घबड़ा उठा । दूतसे हज़ार पूछनेपर भी पता न चला कि बादशाह सलामतने कैसे तलब किया । उससे बस इतनी जानकारी हुई कि बादशाह संगम गया था । वहाँसे उसने झूँसी देखी । उसका चेहरा गम्भीर हो गया । उसने जो मौक़ेसे मोहकर कुछ कहना चाहा तो उसे चुप कर दिया, फिर राजाकी तलबीका हुक्म दे पड़ाव लौट आया ।

राजाका दिल बैठा जा रहा था । बीरबलको बुलानेके लिए वह हरकारे पर हरकारा भेज रहा था, पर उसके कानों जूँ नहीं रेंगती थी । बेटीके साथ वह शतरंज खेल रहा था, हिला तक नहीं । हरकारेने जो किस्सा बयान कर राजाकी घबड़ाहटका हाल कहा तो बीरबल यह कहकर फिर

खेलमें मशगूल हो गया कि 'राजा साहबसे कह दो, हुजूरकी सेवामें चले जायँ और जब जायँ तब कुछ नावोंपर ईट-चूना साथ लेलें।'

राजा बीरबलका मिज़ाज जानता था, चुप हो रहा। उसकी सलाहपर उसे भरोसा था। उसने साथ ईट-चूनेसे भरी नावें लीं और बादशाह सलामतके सामने आ खड़ा हुआ। दहशतके मारे उसका बुरा हाल था। होंठ सूखे जा रहे थे, रोयाँ-रोयाँ काँप रहा था।

उधर बादशाहकी पेशानीपर बल पड़े थे। जो कुछ उसने देखा वह उसे हैरतमें डाल रहा था। अभी सूरज निकला नहीं था, जब इने-गिने मुसाहिबोंके साथ संगमपर पिछली रातकी जगह आ खड़ा हुआ था। अभी कुछ ही मिनट उसे आये हुए थे कि उसने धुँधलकेमे मालभरी नावें गगामे झूँसीकी ओरसे अपनी ओर आती देखीं।

बादशाहकी नजर उधर थी ज़रूर, पर वास्तवमें वह उन्हें देख नहीं रहा था। कुछ ही देरमें नावें वहाँ आ पहुँची जहाँ बादशाह खड़ा था। नावोंके आगे सुन्दर बजरेपर राजा सवार था। उसने बादशाहको न देखा, पर नादिर उसका पहचाना था। उसके आदमी सिपाहियोंसे शाही पड़ाव पूछ रहे थे कि नादिर उसे पहचान उसकी ओर बढ़ा और उसे लाकर बादशाहके सामने खड़ा कर दिया। नावें धीरे-धीरे तटसे आ लगीं। बादशाह कवका उनका ईट-चूना देख चुका था। अब हैरानी उसे थी।

'यह ईट-चूना क्यों, राजा ?' बादशाहने राजाके मुजरेके जवाबमें पूछा।

'बादशाह सलामत, गुलाम बेगुनाह है', लड़खड़ाती ज़बानमें राजा बोला। उसकी कलँगी ज़मीन चूम रही थी।

'बादशाहने जाना, उसका सवाल उसके भीतरी विचारोंका सिलसिला था, जो भला ग़रीब राजा क्योंकर जान पाता। उसने झट आश्वासन देते हुए राजासे कहा, 'नहीं, नहीं, गुनाहका क्या सवाल है, भला ? पर मैं पूछ रहा हूँ कि ये नावें क्यों ? इनके ईट-चूनेसे क्या मतलब ?'

अब राजाकी जानमें जान आई। वह आश्वस्त हो गया, पर उसने समझा कि बीरबलकी सलाह फिर भी आड़े आई। झट आत्मरक्षामें उसके मुँहसे निकल पड़ा—‘बन्दापनाह, कुसूर मेरा नहीं, बीरबलका है।’

राजा सम्हल गया था, पर उसे लगा, अभी खैर नहीं, मामला तूल पकड़ चुका है। बादशाह उसकी घबड़ाहटसे फिर नरम पड़ गया। मुसकरा-हट दबाई और पूछा—‘कौन है यह बीरबल?’

‘बीरबल, बन्दापनाह, गुलामका सलाहकार है, दीवान’, राजा बोला।

‘हाज़िर करो उसे, अकेले।’

‘दो घण्टेके पेश्तर, बादशाह सलामत’, कहकर जब राजा चला तब उसकी सही साँस लौटी। कुछ खुश भी था कि मुसीबत अब बीरबलके सिर गई। देखें कैसे पनाह पाते हैं। रातसे ही बुलवाता रहा हूँ, ज़रा परवाह नहीं की।

बीरबल जब बादशाहके पास जानेके लिए नावपर बैठा तब उसके चेहरेपर मुसकराहट खेल रही थी। राजा दंग था। उसने वहाँ हवा-इयाँ देखनी चाही थीं। नावके दूर चले जाने तक वह आँखें फाड़-फाड़ देखता रहा, फिर धीरे-धीरे हवेलीमें दाखिल हुआ।

‘जहाँपनाह, जो बादशाह सलामतके इक़बालसे वाकिफ़ है, उसे समझते ज़रा देर नहीं लगी कि संगमपर खड़े होकर उनके मनमें कैसे खयाल उठेंगे। मुझे लगा, आलमगीर यहीं क़िला बनवाना चाहेंगे, नज़रके नामपर ईंट-चूना भिजवा दिया।’ बीरबलने बादशाहके सवालके जवाबमें कहा।

‘ग़ज़बकी अव़ल पाई है तुमने, बीरबल! आजसे तुम्हारा खिताब ‘राजा’ हुआ और तुम आगरेके दरबारके ‘रतन’ हुए। शाम तक शाही पड़ावपर आ जाओ। साथ चलना होगा।’ बादशाहने मुसकराते हुए कहा।

‘बजा इरशाद, जहाँपनाह’, कह बीरबलने फ़र्शी सलाम किया और शाही खेमेसे बाहर हो गया।

गजबकी अक्ल पाई है तुमने, बीरबल !

१८१

पड़ावमें पल भरमें चारों ओर खबर घूम गई । मुसाहिब नये रतनकी अक्लकी बात सुन हैरतमें आ गये । राजाने जो बीरबलको हाथी-घोड़ोंके साथ लौटते देखा तो दंग रह गया । पर उसके मनमें ईर्ष्या न थी अफ़सोस था, कि उसके बचावका जरिया, उसका कवच, अब उसके पास न रहा ।

कुछ ही दिनोंमें गंगा-जमुनाके संगमपर इलाहाबादका क़िला बनकर खड़ा हो गया ।

अम्बरनरेशका पुरस्कार

मानसिंह मुगल सल्तनतकी तलवार माना जाता था । उस सल्तनतमें उससे बढकर लड़ाका न था । दक्खिनसे फ़रगाना तक उसका बोलबाला था । काबुलकी घाटीकी गहराइयोंसे हिन्दूकुशकी चोटी तक उसका जस छाया हुआ था ।

बंगालको खुद बादशाहने एक बार सर किया था, पर उसके बागी सरदार गायब हो गये थे । जब शाही कुमक उधर जाती, वे सुन्दरबनमें जा छिपते, फिर निकलकर उड़ीसा, बंगाल, बिहारपर हावी हो जाते, लूट-मार करने लगते, शाही लश्कर बेदीन हो जाते, शाहंशाहकी हुकूमत उस ज़मीनसे उठ जाती । एकसे एक सूरमा बंगाल भेजे गये, पर साबुत कोई नहीं लौटा, जो लौटा भी तो पिट कर । बादशाह परेशान था । उसकी चिन्ता मानसिंहने समझी । उसने बंगाल सर करनेका बीड़ा उठाया । अपने राठौरोंको ले वह गौड़ जा पहुँचा ।

महीनों बाद जब वह आगरे लौटा तब खुद अकबर उसके स्वागतके लिए शहरपनाहके फाटक तक आया । उसने राजाको गले लगा लिया । मुसाहब आह भरने लगे ।

बंगाल पूरी तरह सर हो चुका था । उसके सारे बागी आगरेमें काठमें ठुक चले थे । उधरसे कोई अन्देशा नहीं था और अब अकबर चैनकी नींद सो सकता था ।

पर अब वह एक दूसरी धुनमें था । मानसिंहको क्या बख्शा जाय ? उसका काम कुछ मामूली न था । बंगाल दक्खिन न था, मालवा न था, गुजरात न था, काबुल भी न था । उसे सर करना कुछ आसान न था । उसकी मुश्किलोंका खासा तजुरबा खुद शाहंशाहको था, और उसे हो रहा

था, कि मानसिंहको कुछ क्या देकर निहाल हो जाय । पर बादशाह उसे हाथी-घोड़े, दास-दासी, रतन-इलाक़े नहीं देना चाहता था । अम्बरनरेशके पास हाथी-घोड़े, दास-दासी, रतन-इलाक़ोंकी कमी न थी । इन्हें देकर अकबरका मन अब भरनेका नहीं ।

उसने दरबारे खास बुलाया । नौ रतन बैठे । उसने अपने मनकी बात कही । पर वे कोई बख़्शीश उसे मुझा नहीं सके । उन्होंने उन्हीके नाम लिए—हाथी-घोड़ोंके, दास-दासियोंके, रतन-इलाक़ोंके । अकबरने सिर हिला दिया । जाहिर था कि वह इनसे ऊब चुका था । झल्लाहट और लाचारी उसके चेहरेपर झलक उठी । उसने एक ठंडी साँस ली ।

फिर जैसे कुछ याद आ गया । उसने बीरबलपर नज़र डाली । नज़रें मिल गईं । बीरबल चुपचाप कुछ मुसकराता-सा बादशाहकी ओर देख रहा था ।

‘राजा, तुम चुप कैसे हो, यह जानकर कि मैं तुम्हारी अक्लका कायल हूँ ? तुम्हीं मेरी मुश्किल आसान कर सकते हो, बोलो ।’ बादशाहने जैसे बेबसीमें कहा ।

राजा बीरबल बोला, ‘जहाँपनाह, अम्बरनरेशका नाम है ‘मानसिंह ।’ उन्हें वीर मानसिंह कहे, जीते हुए बंगालको तीन हिस्सोंमें बाँट दें, हर एकका नाम उनके नामके टुकड़ोंपर रख दें । उनका नाम आजसे ‘वीर-भूमि’, ‘मानभूमि’, सिंहभूमि हो ।’

नौरतन दंग थे । बादशाह मोह गया । गद्गद था । चेहरेका रोयाँ-रोयाँ पुलक उठा था ।

बोला—‘बीरबल, आजसे बंगालके तीन हिस्सोंके नाम वीरभूमि, मानभूमि, सिंहभूमि हुए । उनको ये नाम देकर तो सचमुच मैं निहाल हो गया । समझा कि अम्बरनरेशको मैंने पुरस्कृत कर दिया, पर इस मुझावके लिए तुम्हें क्या दूँ, यह कभी न जान पाऊँगा । कंगाल हूँ !’

शाहंशाहने सिर झुका दिया ।

जब सिकन्दरने राह चुराई !

गौगामेलाका फैला मैदान । बालूके ऊँचे टीले जिनके सायेमे गजराज दम ले ले, मगर रेत ऐसी कि समुन्दरकी लम्बाई-चौड़ाईको लजा दे । रेतके पहाड़ जो आज यहाँ, कल वहाँ, पीली आँधीके डैनोंपर सवार ।

उसी गौगामेलाके मैदानमे दाराकी सेनाएँ पड़ाव डाले पड़ी थीं । दारा यह तीसरा था, उस महान् दारा (दारायवौष्) के खानदानका, जिसका जस चीनसे यूनान तक गाया जाता था । कुरुष् उस कुलका पहला यशस्वी सम्राट् था जिसने हिन्दुस्तानकी सरहद गन्धार तककी जीता, उधर पश्चिममें भूमध्यनागर तक । तीन पीढ़ी बाद दारा आया जिसने पंजावपर कब्जा किया, जिसकी बाख्त्रीकी धूनमें जायफ़्रान फूलता था, आमू दरियाके किनारे, जिसके बेटे क्षयार्षनि यूनानपर हमला कर यूनानी इतिहासमें माराथानकी घटना अमर की, जो शकोंकी खोजमें दानूब नदीकी राह देखिनी रूस तक जा पहुँचा, जिसने अपनी विजयोंकी प्रशस्ति नक्शाएँ हस्तम और बेहिस्तूनकी शिलाओंपर खुदवाई, जिसने अपनेको 'आर्योंमें आर्य', 'क्षत्रियोंमें क्षत्रिय' कहा । उसीके बेटे क्षयार्षनि यूनान जीतकर एथेन्सको जला डाला । उसकी ओरसे भारतीय युद्धजीवी भी लड़े थे, खादी पहने, लोहेके फलोंवाले लम्बे तीर लिये; और फिर यह दारा हुआ, दारा तीसरा ।

साम्राज्यकी चूलें हिल गई थीं, पर साम्राज्य आखिर अभी खड़ा था— हिन्दूकुश-बदख्शाँसे सीरिया तक, मिस्र-अबीसीनियासे रूस तक । दूर-निकटके सूबोंपर ईरानी सूबेदार (क्षत्रप) शासन करते थे और सूबोंका सोना पार्सपुर (ईरानकी राजधानी पर्सिपोलिस) में धारासार बरसता

था । सिकन्दरको यूनानके पुराने अपमानका बदला लेना था, दाराकी चढ़ाईक, उसके बेटे क्षयाषकि विध्वंसका । सदियोंसे यूनानी इतिहासकार यूनानियोंके पुरातन अपमानका ईरानियोंसे बदला लेनेको भड़का रहे थे—हेरोदोतस, दिमोस्थेनीज, पेरिकलीज । पर ईरानियोंकी तलवारें मजबूत मुट्टियोंमें थीं, यूनानी अरमान जहाँके तहाँ रह गये । फिर एक दिन मकदूनियाके फ़िलिपके लाड़ले सिकन्दरमें दिग्विजयकी लौ लगी, उस पुराने अपमानके बदलेकी बिसरी याद दार्शनिक गुरु अरस्तूने उसे पढ़ाते समय बार-बार दिलाई थी । सिकन्दरको याद दिलानेकी जरूरत न थी वह क़ौमी बेइज्जती थी । वह मकदूनियाके महलोंमें खड़ा हुआ उस रातके दूसरे दिन, जिसके जशनमें हत्यारेने उसके बापको छूरा भोंक दिया था, और दोस्तोंको खज़ाना लुटाता हुआ बोला—‘लो, लो यह सोना !’

दोस्तोंने पूछा—‘सिकन्दर, सब दे डाला, आखिर अपने लिए क्या रख रहे हो ?’

सिकन्दर बोला—‘उम्मीदें !’

उन्हीं उम्मीदोंको लिये वह मकदूनियाके पहाड़ोंसे निकला और यूनानको फिर सर करता, एशिया माइनर-फ़िलिस्तीनको रौंदता मिस्र जा पहुँचा । दाराके क्षत्रपोंकी हारकी खबरें ईरानी राजधानीमें पहुँच चुकी थीं पर दखिन बढ़ते सिकन्दरके घोड़ोंकी बाग किसीने न रोकी । सिकन्दर मिस्र लेता उत्तर लौटा और गौगामेलाके मैदानमे जा उतरा—उस मैदानमें जहाँ दूर तक सुनहरे खेमे खड़े थे, रानियों-रखेलियोंके खेमे, उमरा-सरदारोंके । दाराकी सेना क्या थी शहर था, शहरका कोई ऐसा ऐश नहीं जो उन खेमोंमें मुहैया न हो । पर उस दारा और इस दारामें फ़र्क था, ज़मीन-आसमानका फ़र्क ।

दाराकी बेशुमार फ़ौजें दूर तक फैली पड़ी थीं, उस गौगामेलाके बियाबाँमें जहाँ वसन्त तब जवानीपर था । सूरजकी आँख कबकी बन्द हो चुकी थी—शामका झुटपुटा रातकी गहराईमें डूब चुका था । ईरानी

दस्तरखान दमक रहे थे, साक्री शराबके जाम भरते जा रहे थे, मीनाओं-की कतारें खाली होते ही भर जाती थीं, नर्तकियाँ नाच रही थीं ।

सिकन्दर अपनी सेना लिये पहुँचा ही था कि उससे पहले पहुँचे सरदार पर्दिकस्ने कहा, 'सिकन्दर, बस हमला कर दो, पौ बारह है, वरना सुबहका उजाला होते ही दाराकी बेशुमार फ़ौज देख अपनी सेनाको काठ मार जायेगा ।'

सिकन्दर हँसा, बोला, 'पर्दिकस्, सिकन्दर जीत चुराता नहीं लड़कर लेता है !'

पर्दिकस् लजाकर चला गया । सुबह हुई, कुछ ही ठोकरोसे सिकन्दरने दाराके साम्राज्यको गिरा दिया । महान् साम्राज्य चरमराकर जो गिरा तो अपने ही मलबेमें समा गया । सिकन्दरने जीत चुराई नहीं । शिल्पी आया, बोला, 'महान् है तू, सिकन्दर । ला तेरी मूरत गढ़ दूँ—एक पैर एक पहाड़की चोटीपर, दूसरा दूसरे पहाड़की चोटीपर, एक हाथसे दूसरे हाथकी मुट्ठीमें समुन्दर उँडेलती मूरत ।'

रातमे सिकन्दरने भी जशन मनाया । पर्सिपोलिसके महलोंके सायेमें । शराबका दौर चल रहा था । सभी सरदार पी रहे थे । सिकन्दर भी अपने आपमें न था । सैनिकोंके हाथकी सैकड़ों मशालें रातको दिन बनाये हुए थीं । पर उन मशालोंका तेज अन्तियोककी प्रसिद्ध वेश्या तायाकी रूप-जोतसे मलिन पड़ रहा था । ताया विश्वविख्यात गणिका थी । प्राचीन जगत् उसका दीवाना था । प्राचीन गायकोंने अपने गीतोंमें उसका रूप अमर कर दिया था । ताया उस विश्वविजयी सिकन्दरकी रखैल थी ।

शराबका नशा जब सरदारोंपर असर कर चला, उनके पैर लड़-खड़ाने लगे, तभी एकाएक ताया उठी । बोली, 'विश्वविजयी, तुमसे पहले भी इस घरापर विजेता हुए हैं, पर उनके साथ ताया न थी । आज ताया कुछ करेगी । कहानी रह जायगी कि सिकन्दरके साथ एक नारी थी जिसने वह किया जो कभी कोई नहीं कर सका ।' फिर पासके सैनिकके हाथसे

मशाल छीन वह उन महलोंमें घुसी जिनमें कुरुष और कम्बुजीय, दारा और क्षत्रपर्षाके इकवाल, जीत और लूटसे आई दौलत—बाख्त्री-बदख्शाकी, गान्धार-पञ्चनदकी, खुरासान-अज्रबैजानकी, बाबुल-निनवेकी, दमिश्क-जुख्सलमकी, तीर-सोदोमकी, एथेन्स-नेन्किन्की—गँजी पड़ी थी। महलके सुनहरे कँगूरोंके साथ वह भी जलकर खाक हो गई। संगमरमरके खम्भे मस्तकहीन खड़े थे। संगमूसाके आबसे चमकनेवाले साँड़ चुप थे, दारा महानुकी प्रशस्ति बेजवान हो गई। यह एथेन्सके विध्वंसका बदला था।

शेलमके उस पार हिन्दका बाँका लड़ाका पर अदना जमींदार राजा पुरु सिकन्दरकी राह रोके खड़ा था। कुछ पैदल कुछ घुड़सवार सेना थी, उसके पास, हजार रथ थे, १३० हाथी। उधर यूरोप, अफ्रीका और एशियाके चुने वीर और उनसे बढ़कर यूनान-मकदूनियाके वे रिसाले जिन्होंने लड़ाईके हुनरमें अपना साका चलाया था। पर करीके मैदानमें सिकन्दरने जो पंजाबी मर्दानगीकी फ़ौलादी दीवार खड़ी देखी तो उसके देवता कूच कर चले। मुँहसे निकल ही तो पड़ा, 'आखिर वह खतरा आज सामने है जो मेरे साहसको ललकार रहा है। पाला आज एक साथ ही बनैले जन्तुओंसे पड़ा है, लामिसाल जवाँमदोसि !'

यह तो तबकी बात है जब सिकन्दर शेलम पार कर गया था। पर बुनियादी कहानी तो उस पारकी है जब कि दजला-फ़रातकी धाराओंने जिसकी राह न रोकी, हिन्दूकुशका हिममण्डित गौरवान्वित मस्तक जिसके चरणोंमें झुक गया, सिन्धुके प्रखर प्रवाहके सामने जिसके घोड़ोंकी बाग न रुकी, वही सिकन्दर शेलमके तटपर बेबस हो गया, लाचार बेरौनक।

तक्षशिलासे सिकन्दरने पुरुके पास सन्देश भेजा था—'आत्मसमर्पण कर दो, आकर मिलो।' राजाने उत्तरमे कहला दिया था—'निश्चय मिलूँगा, पर सेनाके साथ वितस्ता (शेलम) के तटपर !' और अब वह वितस्ताके तटपर उसकी राह रोके खड़ा था।

बरसातके दिन थे। नदी उमड़ी आ रही थी, कूल उसे सम्हाल नहीं

पा रहे थे । उसे रिसालेके साथ पार करना कुछ ठूठा नहीं था जब बाँका लड़ाका पुह मौत और सिकन्दर दोनोंको ललकार रहा था। दिनों पैतरेबाजी होती रही, राह न मिली । सप्ताह बीते, पर मौका हाथ न आया । सिकन्दर रातके अन्धेरेमे नदीके उतार-चढ़ावकी ओर फिरा करता कि कहीं अवसर मिले और वह झेलम डाक जाय ।

जब मर्दानगी चुकी तब उसने राह चुरानेपर कमर कसी, और एक रात उसे अवसर मिल ही गया, राह भी मिल गई । सोलह मील चढ़ावपर ओहिन्दके पास नदी टेढ़ी हो गई थी । वहाँ जंगलोसे ढका नदीके बीच एक टापू भी था । अब मौका चाहिए था । भादोंकी रातमे भला उसके मिलनेमें क्या देर ?

भयानक अँधेरा, सुईसे छिद जाय, ऐसा घना अँधेरा कि अपना हाथ भी न सूझे । मूसलाधार मेह बरस रहा था । काला आसमान धुआँधार, जमीनपर गिरा आ रहा था । सिकन्दर ११,००० चुने हुए सवारोंके साथ चुपचाप निकल पड़ा पड़ावसे । पड़ावमे क्रातरस् अपनी फ़ौजके साथ जशन करता रहा जिससे नदी पारका दुश्मन धोखेमे रहे, जाने कि यूनानी बरसात तक वहीं ठहरना चाहते हैं । क्रातेरस् और सिकन्दरके बीच मिलीगर अपनी सेना लिये विश्वविजयीके इन्तज़ारमे बैठा ।

और विश्वविजयी रातके अँधेरेमें ओहिन्दके टापूके जंगलोंके सहारे, बरसते मेह और अँधेरेके सहारे, उस पार उतर गया । इतिहासकार एरियनने लिख दिया—‘सिकन्दरने राह चुराई !’ और सिकन्दर जब-जब सोता, रात साँय-साँय करने लगती, तब-तब गौगामेलाकी उसीकी आवाज़ उसके कानोंमें व्यंग करती फुसफुसा उठती—‘पर्दिकेस्, सिकन्दर जीत चुराता नहीं लड़कर लेता है !’

इन्सानियतका पहला दावेदार !

इन्सानियतका वह पहला दावेदार अशोक था। पहली बार उसने नीतिकी पुस्तकोंका आदर्श अपने आचरणमें व्यक्त किया। उनके घातक आदर्शोंको त्याग उसने मानवके उन्नयनके आदर्श खोजे, उनका प्रचार किया।

जमाना खून-खराबेका था। संसारमें राजाओंकी एक ही ताकत थी, तलवार, एक ही नीति थी, दिग्विजय। सिकन्दरका मनुष्यकी हड्डियोंसे, रक्तके गारेसे, खड़ा किया साम्राज्य टूट कर बिखर रहा था। सीरियाका साम्राज्य अपनी आखिरी साँसें ले रहा था, ईरानी राष्ट्रीय आन्दोलनने पार्थवोंको स्वतन्त्र कर दिया था, बाब्वीका वक्षुवर्ती प्रान्त बासी हो गया था। चीन जितना उत्तरो खूँखार जातियोंकी चोटसे खून उगल रहा था, उतना ही गृह-युद्धसे तबाह था। महान् दीवारका वह निर्माता अब उस धरापर उतरने ही वाला था जिसने चीनकी जमीन तो रक्तसे रँग ही डाली, उस देशकी सहस्राब्दियों पुरानी पोथियोंको भी आगकी लपटोंमें स्वाहा कर डाला। समस्या तबके संसारमें एकमात्र तलवारसे हल की जाती थी।

पर अशोकने तलवार तर्क कर दी। मानवोंके पारस्परिक सम्बन्धमें उसने मानवीय सिद्धान्तोंका प्रसार किया, क्रोधको क्षमासे जीता, घृणाको प्रेमसे। स्वयं उसने जिस संसारको आरम्भमें पाया था वही रक्तरंजित संसार था, वन्य जन्तुओंके संस्कार जिसकी नीतिके आदर्श थे। अशोक स्वयं अनेक भाइयोंको मार लहूसे लाल गद्दीपर बैठा था। उसकी वाहिनी भी अन्य राजाओंकी भाँति ही 'अनधिगत'के 'अधिगमन'के लिए चली। पिता-पितामहने बहुत कुछ उसके लिए जीतकर रख दिया था।

केवल कर्लिंग स्वतन्त्र था जो तरुण राजाकी नज़रपर चढ़ कर खटकने लगा । जब उसकी विशाल सेनाने महानदीके काँठेपर हमला किया तब कर्लिंगके वीर निवासियोंने जमकर उसका मुकाबला किया । भयानक नर-संहार हुआ । एक लाख कर्लिंगके आज्ञादीपरस्त सूरमा खेत रहे, डेढ़ लाख क्रैद कर लिये गये । इस संख्यासे कई गुना लड़ाईके सर्वग्रासी वीमारियोंके शिकार हो गये ।

अशोकका हृदय इस भयंकर हत्याकाण्डसे घबड़ा उठा । विजयोंकी राजनीतिसे वह विरत हो गया, तथागतका प्रेममार्ग उसके अभियानका पथ बना और यह अभियान ऐसा जैसा अब तक की राजनीतिमें अनजाना था । उसने कहा, अब दिग्विजयके लिए भेरोघोष नहीं होगा । धर्मविजयके लिए धर्मघोष होगा । साम्राज्यमें सभी प्रजा बराबर अधिकारसे प्रेमपूर्वक बसेगी, उसके सुखके लिए राजा वैसे ही प्रयत्नशील होगा जैसे अपने पुत्रों-पौत्रोंके लिए । उसके फैले 'विजित'में सम्प्रदाय घृणारहित प्रेम भावसे परस्पर आचरण करेंगे ।

प्रेम और सहिष्णुता भरे उसके उपदेश शिलाओंपर, पत्थरके खम्भोंपर खोदकर युद्धके पुराने मोर्चोंपर, भारतकी सीमाओंपर, भीतरके नगरोंमें, घनी आबादियोंमें भटकते मानवोंके मार्ग-प्रदर्शनके लिए खड़े कर दिये गये । बन्धुत्वके नारे हवामें उठे, चिकित्साने पशु-मानवको व्याधिमुक्त किया ।

सदियों ग्रीस और मकदूनियामें ईरानी विजयके बदलेकी आग लोगोंके दिलोंमें सुलगती रही थी । लोग उसी पराजयकी शपथ खाते, बदला लेनेकी प्रतिज्ञा करते, इतिहासकार उन्हें घटनाओंके ज्वलन्त निरूपणसे बदलेके लिए जगाये रखते । सिकन्दर जो वहाँसे आँधीकी तरह उठा तो उसका रोम-रोम बस एक आवाज़से आकुल था, ईरानसे बदलेकी आवाज़से, दारा और क्षयार्पाकी औलादको इस धरासे उखाड़ फेंकनेकी आवाज़से । और उसने दारा-क्षयार्पाकी औलादको गौगामेलाकी लड़ाईमें कुचलकर ग्रीसके

वीरोंके अपमानका बदला लिया । ईरानकी राजधानी पर्सिपोलिसको, उसके रत्नभरे भवनोंको आगकी लपटोंको सौंप एथेन्सके विध्वंसकी याद मिटाई, उसके बुलन्द खम्भोंको जमींदोज कर दिया ।

बदलेकी भावना स्वाभाविक है, सबको होती है, अशोकको भी शायद हुई । पीढ़ियों पहले इसी सिकन्दरने पजाबकी चप्पा-चप्पा जमीनको कुचला था । उस जमीनकी रक्षाके लिए आजादीके दीवानोंने अनसुनी कुर्बानियाँ की थीं । पुरुने, पिप्रमने, कठोंने, मालवोंने, अग्रश्रेणियोंने, शिबियोंने, ब्राह्मणोंने । शारदाकी जिह्वा थक जाय उनके नाम गिनते जिन्होंने भारतकी इंच-इंच जमीनपर माराथान और थर्मापीलीके मैदान रचे थे । बदलेकी भावना स्वाभाविक थी और उसे रूप देनेमें अशोक चूका नहीं । उसके माध्यमसे भारतने ग्रीकोंसे, उनके पाँचों राज्योंसे प्रभूत बदला लिया । उनकी जमीनसे उसने दुश्मनीकी जहरीली पौध उखाड़कर उसकी जगह मुहब्बतकी पौध लगाई, भाईचारेका फूल उस पौधेपर मलयानिलमे डोलती उसकी टहनियोंपर झूम उठे । यह बदलेका नया तरीका था, दुनियाका अनजाना—‘तू मुझे काँटे बो, मैं तेरी राह फूल बोऊँगा !’

अशोकने पाँचों ग्रीक राज्योंमें—मकदूनियामें, सीरिया (अन्तिओक) में, एपिरसमें, मिस्रमे, सिरीनमें—पशु-मानवोंकी चिकित्साके लिए औषधियाँ लगवायीं । शत्रुओंने दाँतोंतले उँगली दबा ली । सिकन्दर आग और तलवार लिये भारत आया था । अशोकने दूत औषधि और शान्तिकी अमरबेल लिये मकदूनियामे घुसे । पच्छिमने संहारके साधनोंसे भारतको प्रनष्ट करना चाहा था, अशोकने उसी पच्छिमको जीवनके अमर साधनोंसे भेंटा ।

तथागतका यश देश-देशमें फैल चुका था, अशोकके भ्रातृ-सन्देशने दूरकी जनतामे विवेक और प्रेमकी साँस फूँकी थी । तीसरी संगीतिके धर्म-दूतोंने एशियाके कोने-कोने तक परुषको मुटुलसे, घृणाको प्रेमसे, क्रोधको क्षमासे जीता था । अशोक दूर उस मगधके हृदय पाटलिपुत्रमे अनितृप्तिकी

साँस लेता था जिसके आतंकने ब्यासके किनारे सिकन्दरकी राह रोक दी थी, जिसके डरसे ग्रीक बाहिनीने वहाँ हथियार डाल दिये थे । ”

परन्तु वह पाटलिपुत्र अब नन्दोंके आतंकका केन्द्र न था । उससे अब उस प्रशान्त शीतल कौमुदीकी आशा छिटकती थी जिसके स्पर्शसे चराचर शान्ति और सन्तोष लाभ करता था । अशोक वृद्धावस्थामे था । उसके अद्भुत कर्म उसकी कीर्ति दिगन्तमें फैला रहे थे, उसके अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों द्वारा उसका नाम अमर कर रहे थे । उसका ‘विजित’ बड़ा था । उसका यश उसमे न समा सकनेवाला, उससे भी बड़ा था, और जब वह अपने जीवनकी विगत मजिलोंको मुड़कर देखता तब सुनहले प्रकाशकी लीक-सी उसे दीखती जिसमें एक धब्बा न होता, शर्मकी एक स्याह लकीर न होती । सन्तोषसे अशोककी छाती फूल उठती ।

देशमे महान्, विदेशमे महत्तर अशोककी आज्ञा अनुल्लङ्घनीय थी । भला कौन उसकी भावनाओंको टोक सकता ? कौन उसके संकेतका अपमान करता ? युद्धोंकी मारी मानवताका पंजर फिर भर गया था, चोटसे विकल मानवोंके व्रण भरे जा रहे थे । पृथ्वी ऐसे स्वामीको पाकर राजन्वती हुई थी । फिर कौन ऐसा अभाग था जो अशोकके आदेशोंकी उपेक्षा कर अपजसका भागी बनता ?

तभी एक घटना घटी जिसने नीतिकी राहमें एक नई मंजिल खड़ी की । पाटलिपुत्रके नये बौद्ध महाविहारको अशोकने असीमित धन दान किया । सद्धर्मके इतिहासमे यह अनुपम दान सोनेके अक्षरोंमें लिख लिया गया । सिंहल-नेपालमे, कश्मीर-उद्यानमें, तुखार-गोबीमें सर्वत्र श्रमण-चारण इस दानकी महिमा गाने लगे । महाविहारके महास्थविरने तब अशोकसे उस दानका धन माँगा । अशोकने धर्ममहामात्रकी ओर देखा, धर्ममहामात्रने सन्निधाताकी ओर । सन्निधाताकी कुञ्जियोंके गुच्छे राजनिधिकी रत्नपेटिकाएँ खोल देनेके लिए उसकी कटिमें फड़क उठे ।

पर किसीने राजनिधिके द्वारपर प्रहरी नियुक्त कर दिये थे। सन्निधाताने देखा, प्रहरियोंके पास युवराज सम्प्रतिके आज्ञापत्र थे। सन्निधाता सहम गया। उसने कुंजियोंके गुच्छे सम्हाल लिये। इस बीच मगधके साम्राज्यमें कुछ हो गया था। महामन्त्री राधगुप्त और सम्प्रति युवराज उसके कारण थे।

युवराज सम्प्रति प्रमदवनमें चिन्ताकुल टहल रहा था, जब महामन्त्री राधगुप्त स्वयं चिन्ताकुल वहाँ पहुँचा। राधगुप्तको देखते ही सम्प्रतिने पूछा—‘सुना, आर्य ?’ ‘सुना, युवराज’, राधगुप्त बोला। ‘फिर ?’ ‘फिर औचित्यका निर्वाह !’ ‘अथात् ?’ ‘अर्थात्, राजनिधिपर पहरा।’ ‘और गुरुजन, पितामह, सम्राट्के शासनका उल्लंघन-दोष ?’ ‘वह इस कर्तव्य-परिधिके बाहर है, युवराज ! प्रजाकी परिधि उससे बड़ी है, उसके रंजनका मान उस शासनसे कहीं व्यापक है, और मात्र तुम उसकी रक्षाके उचित साधन हो। सम्राट् कार्यविध्ययक मात्र है, निधिके स्वामी नहीं, महाविहारके प्रति उनकी श्रद्धा वैयक्तिक है, प्रजाकी निष्ठा उस दिशामें विविध है, परस्परविरोधी। दान अवैधानिक है। उसे व्यवहारतः (कानूनन) रोक सकते हो, रोक दो, राष्ट्रके हितके लिए।’

दान सम्प्रतिने रोक दिया। राजनिधिकी पेटिकाओपर युवराजके ताले पड़ गये। सन्निधाता चुप हो रहा। महास्थविरने सम्राट्के समीप निवेदन किया। अशोकके नासापुट फड़क उठे, आँखोंसे आग बरसने लगी। वह सभाभवनसे उठकर महलके भीतर चला गया।

कुछ काल बाद समझमें आया, उसका दान शक्तिके बाहर था, उसकी चेष्टा अनधिकारीकी थी। पर शक्ति झुँझला रही थी, मनको ग्लानिसे भर रही थी। अनुल्लंघनीय शासनवाला राजा स्थितिको समझ गया, सही, पर उसके गर्वको ठेस लगी। दुःखी रहने लगा; न किसीसे बोले न चाले।

एक दिन प्रमदवनमें चुपचाप बैठा आमलक खा रहा था। अपनी

उसी शक्तिविरहित स्थितिको गुन रहा था, दान न दे सकनेसे कुख्यातिसे दबा-दबा । आँखें डबडबा आई थीं । तभी महामन्त्री राधगुप्त आपहुँचा । सम्राट् ने उसके अभिवादनका उत्तर न दे, पूछा—‘राधगुप्त, सम्राट् तुम हो या मैं ?’ ‘सम्राट् आप हैं, देव, दूसरा कौन ?’ ‘मुझे तो, राधगुप्त, यह खाया हुआ आधा आमलक तक इच्छानुसार किसीको दे सकनेका अधिकार नहीं !’

आँखोंमें टँगे आँसू ढुलक पड़े ।

मालवोंका वह जानलेवा तीर !

संसारकी बहुत कम जातियोंने अपने देशके इतिहासपर इतना प्रभाव डाला है जितना मालवोंने भारतपर । मालव रावीके दोनों ओर पंजाबमें बसनेवाले किसान थे । भारतीय इतिहासमें उनका लोकतन्त्र जितना प्रसिद्ध हो गया है उतना शायद और किसीका नहीं । मालवोंका गण अत्यन्त प्राचीन था । चन्द्रगुप्त मौर्य और साम्राज्यवादी चाणक्यकी ध्वंस-नीतिसे क्षुब्ध होकर वे पंजाब छोड़ पूर्वी राजपूतानेकी राह दक्षिण चले । जयपुर और अलवरके इलाकोंसे होते हुए वे मध्य भारतमें अवन्ती पहुँचे, शकोंके साथ उनकी भीषण मुठभेड़ हुई । उनके गणनायक विक्रमने शकोंको अवन्तीसे निकाल विक्रम-संवत् चलाया ।

वहीं बसकर मालवोंने अवन्तीको अपना मालवा नाम दिया । उन्होंने मालवोंकी यह प्राचीन कहानी है, जब मालव रावीके दोनों तटपर बसते थे, जब सारे पंजाबके गणराज्य आदर्शके लिए उनकी ओर देखते थे । मालव आजादीके दीवाने थे, कभी किसीके शासनमें न रहे । संसारमें उनकी-सी जाति न थी । एक हाथमें हँसिया दूसरेमें वे तलवार धारण करते थे । शान्ति और स्वतन्त्रता उनके स्वप्न और सत्य थे ।

सिकन्दर ब्याससे मन मारे लौटा था, झुँझलाया हुआ । उसकी सेनाने आगे बढ़नेसे इन्कार कर दिया था और बरबस उसे लौटना पड़ा था और अब सामना जो पड़ा तो उन मालवोंसे जो गजबके लड़ाके थे, दिलेरीमें बेजोड़ । उनकी वीरताकी भी देशभरमें धाक थी और जब तक सेना रावीके तटपर पहुँची उसपर मालवोंका डर छा गया था । उसने फिर सिकन्दरको कोसना शुरू किया । उसने समझा, सिकन्दर उन्हें धोखा दे रहा है । लड़ाई उसने जारी रखी है, महज मोरचा बदल दिया है ।

सिकन्दरने जो देखा कि व्यासकी कहानी दुहराई जानेवाली है तो उसे बड़ी घबड़ाहट हुई, क्योंकि अब न लड़ना मौतके मुँहमें जाना था । उसने सेनाको एकत्रकर कहा, 'मेरे ऊपर दया करो और मुझे इस मुल्कसे इज्जत-आबरूके साथ लौट जाने दो, भगोड़ेकी तरह भागनेको मजबूर न करो ।' सेनाने जाना कि आखिर लौटना सिकन्दरके ही नेतृत्वमें है इससे उसका निर्णय मानना ही श्रेयस्कर होगा । एक व्यक्तिकी तरह सारी सेना विजेता-के सकेतपर कार्य करनेको सन्नद्ध हो गई ।

उधर मालवगणने सिकन्दरसे लड़ना निश्चय किया । क्षुद्रकोंका महान् गण उनका पड़ोसी था । मालव और क्षुद्रक एक दूसरेके प्रबल शत्रु थे, प्रकृत बैरी । पर इस समान विपद्में उन्होंने मित्रवत् आचरण करनेका निर्णय कर लिया । अपने सम्बन्धको और दृढ़ बनानेके लिए उन्होंने वह किया जो दुनियाके इतिहासमें अपना सानी नहीं रखता ।

दोनों गणोंने निश्चय किया कि दोनोंके अविवाहित तरुण दोनोंकी अविवाहिता तरुणियोंसे विवाह कर लें जिससे पुराने झगड़े मिट जायँ, जिससे मालवोंके हर घरमें क्षुद्रकोंकी कन्या स्वामिनी हो । सम्बन्ध करते देर न लगी और घड़ियोंमें सदियोंका बैर भुला दोनों एक हो गये ।

सिकन्दरके देशी-विदेशी भेदिये दोनों गणोंके भेद लेनेमें व्यस्त थे । भेदियोंकी कमी न थी । स्वयं निर्भीक लड़ाका पुरु सिकन्दरका मित्र बन गया था । उसीकी सहायता और देशद्रोहितासे विजेता कठोंको कुचल सका था । भेदियोंकी कमी न थी ।

सिकन्दर टोह लेता रहा । मालव और क्षुद्रक सेनाएँ एक दूसरेसे मिलकर देशके शत्रुसे लड़नेवाली थीं । पर सिकन्दरने बड़ी होशियारीसे काम लिया । उसने खबर फैला दी कि अभी कुछ काल वह विश्राम करेगा । मालव और क्षुद्रक दोनों ही सेनाएँ सुस्त पड़ गईं । क्षुद्रक घर ठहरे रहे, मालव अपने खेत काटनेमें लगे । सिकन्दरने सोचा, जहाँ दोनों

मिले कि उसकी सेनाका सत्यानाश हुआ । उनको किसी तरह मिलने न दिया जाय ।

चुपचाप वह मौका देखता रहा । जैसे ही क्षुद्रक शिथिल पड़े वैसे ही उसने खेतोंमें काम करते मालवोंपर भयानक हमला किया । क्षुद्रक बढ़े पर समयपर पहुँच न सके । सिकन्दरकी यही तो चाल थी, दोनोंको अलग-अलग हराना । वह निहत्थे मालवोंपर उनके खेतोंमें जा टूटा । बड़ी हत्या हुई, क्योंकि मालव युद्धसे भागना न जानते थे और नहीं भागनेका मतलब था उस नर-संहारमें प्राणोंकी आहुति । जो खेतोंमें नहीं थे उन्होंने पासके नगरमें शरण ली । गली-गलीमें युद्ध ठन गया । सब मारे गये, क्योंकि बन्दी होना उन्हें स्वीकार न था ।

अगला मोर्चा ब्राह्मणोंके नगरपर पड़ा । सिकन्दरकी राह इतनी शक्तिसे शायद ही कही रोकी गई हो । शास्त्रका आचरण करनेवाले ब्राह्मणोंने शस्त्र धारण किया और सिकन्दरकी सेनाके साथ चलनेवाले ग्रीक दार्शनिकोंने देखा कि भारतीय पुरोहित उसी निष्ठासे तलवार भी पकड़ते हैं जिस निष्ठासे शास्त्रीय ग्रन्थ । पर उससे भी बढ़कर उन्हें अचरज तब हुआ जब उन्होंने आत्मसमर्पण करनेसे इन्कार कर दिया । बन्दी होना जो उन्हें मान्य न था तो स्वाभाविक ही स्वतन्त्रताका मँहगा मूल्य चुकाना पड़ा । प्राण देकर उन्होंने अपनी मर्यादाकी रक्षा की । सिकन्दरने अनेक बार भारतमें नारियोंको लड़ते देखा था, मस्सगमें, सगलमें, दूसरे नगरोंमें । पर वहाँ अनेक नारियाँ कैद हो गई थी । यहाँ, मालवोंमें रीति और थी, बैरीको आत्मसमर्पण न करने की । सो लाशपर लाश गिरती गई, नरोंकी, नारियोंकी, बालकोंकी । मालव सर न हुए ।

सिकन्दरने तब उनके झंग और मण्टगुमरी जिलोंकी सन्धिपर खड़े प्रधान नगरपर हमला किया । ऐसा भीषण युद्ध, ग्रीकोंका भारतमें न हुआ था । सिकन्दरकी विजयोंके क्रममें कहीं इतनी जुझाऊ लड़ाई न लड़ी गई थी । नगरको जीतना असम्भव हो चला । जानपर खेलकर मालव

अपनी आज्ञादीकी रक्षा कर रहे थे। ग्रीकोंका जीवन इस जीतपर ही निर्भर था, वरना लौट सकना असम्भव था, इससे वे भी जानपर खेल रहे थे। सिकन्दरके सारे सरदार दुर्गपर चढ़नेका प्रयत्न कर चुके थे पर मालवोंकी जवाँमर्दीसे सारे प्रयत्न निष्फल हुए जा रहे थे।

अब सिकन्दर स्वयं प्राचीरोंपर चढ़ा। हजारों तीरोंका वह लक्ष्य था। पर उसकी फूर्तिनि गजब ढाया। परकोटेपर वह अकेला जा चढ़ा। फिर तो ग्रीक सेनाने भी वह दिलेरी दिखाई जो असाधारण थी। एक-एक सैनिक जानता था कि उसका जीवन नेताके जीवनपर ही निर्भर करता है, एक-एक सैनिक परकोटेपर जा चढ़ा। पर अब तक जो होना था वह हो चुका था। सिकन्दरको तीर लग चुका था। मालव गणनायकका तीर था, सर्वथा अचूक, सिकन्दरका ताँबेका वर्म छेदता छातीमें जा घुसा था।

अब लड़ाई केवल जीतके लिए नहीं, बदले और जानके पीछे लड़ी जाने लगी थी। कोई किसीपर रहम न करता, न कोई किसीसे शरण माँगता। दोनों ओरसे नर-संहार हो रहा था। ग्रीक सैनिक दुर्गके भीतर बाहर सर्वत्र सशस्त्र और निहत्थे दोनोंपर प्रहार कर रहे थे। उनके लिए नर-नारी-बालकमें कोई भेद न था।

लड़ाई चलती रही, पहरों। मालव नगर मिट गया। उस नगरमें, उस दुर्गमें एक प्राणी जीवित न बचा—न नर, न नारी, न बालक। पर सिकन्दर भी अछूता न बचा। जराहने बड़ी हिम्मतसे उसका तीर खींचकर घावपर मरहम लगा दिया। पर घाव वह संगीन ही न था, मरणान्तक था। सिकन्दरको बुखार हो आया। और कहते हैं कि कुछ काल बाद बाबुल नगरमें जब वह मरा तब अधिकतर उस मालव चोटके ही फितूरसे।



सुगतकी सत्ता

?

अलारकालामका आश्रम विपुल था। ब्रह्मचारियोंकी संख्या विपुल थी। ज्ञानका घटाटोप विपुल था। पर वहाँ गौतमके प्रश्नका उत्तर न था। मानव दुखी क्यों ? तारुण्यका अन्त क्यों ? जरा क्यों ? मरण क्यों ?

चला गया भिक्षु वह आश्रम छोड़, सम्बोधीकी खोजमें।

उद्क रामपुत्त तर्कका अकाट्य पण्डित था। उसके आश्रममें हज़ारों जिज्ञासु अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करते थे। भिक्षु भी वहाँ अपनी प्यास मेटने जा पहुँचा। बताये नियमोंके अनुसार उसने विचारोंका विश्लेषण आरम्भ किया। पर तर्कसे तर्ककी महिमा बढ़ी, गाँठपर गाँठ लगती गई। जिज्ञासा न मिटी। प्रश्न ज्योंके-त्यों बने रहे—मानव दुखी क्यों ? तारुण्यका अन्त क्यों ? जरा क्यों ? मरण क्यों ?

हज़ारों भिक्षु-ब्रह्मचारियोंका वह जनसंकुल कानन गौतमको सर्वथा सूना जान पड़ा। परम्पराका उत्तर उसके मनको न लुभा सका। चला वह सम्यक् सम्बोधीकी खोजमें। राजगिरिके दखिन पहाड़ियोंकी शृङ्खला थी, उस शृङ्खलाके पार गयाका महाकान्तार था, दूर तक फैला गहन वन। गौतम चला उसी दिशामें।

गयाकी पहाड़ियाँ वह लाँघ गया। महाकान्तारके उस हिंस्र जन्तुओंसे भरे वनको उसने अपना आवास बनाया। अब उसका लक्ष्य एक ही था—तपकी साधनासे ध्येयकी प्राप्ति। आसन मार यती निरंजनाके तटपर उरुबेलाके निकट बैठा। अन्नका त्याग, आहारका त्याग, काल पर्यन्त जलका त्याग—घोर तपका जीवन उसने अपनाया। काया डह चली।

रागकी परिधियाँ संकुचित हुई। इन्द्रियाँ अपने विषयोंकी दिशासे मुड़कर अन्तर्मुखी हुई। चेतना संज्ञा खो बैठी। विवेक, सत्-असत्का ज्ञान जाता रहा।

पेट पीठसे जा लगा। शरीरकी त्वचा हड्डियोंसे झूल गई। यतीने उफ़ नहीं की। पर उसके प्रश्नोंका उत्तर फिर भी न मिला। और चेतना पंगु हो चली। सदसत्का विवेक जब जाता रहा तब सम्बोधीका जटिल मार्ग कैसे सुलभ होगा? प्रज्ञा किस प्रकार सत्यका दर्शन संज्ञाके अभावमे करेगी—यती न समझ सका।

एक दिन तपसे क्लान्त जरजरदेह यती निरंजनाकी बालुकामें स्नानमना बैठा था, सर्वथा विमन। प्रयाससे थका जीवनसे हारा, निराश। तभी गाँवकी दिशासे कुछ हलचल-सी सुन पड़ी। यतीने जाना कि यद्यपि इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो चली है, अभी सर्वथा मरी नहीं, क्योंकि कान अभी सुन लेते हैं, चित्त अभी अपनी नृत्तियोंकी ओर झुक पड़ता है। अभी सर्वथा निराशाका स्थान नहीं।

गाँवसे आती हुई आवाज़ अनेक प्राणियोंकी थी, मधुर गीत-वाद्यकी, कुछ देर बाद ध्वनि स्पष्ट हुई। गौतमने नेत्र खोल दिये, कान कबके खुले थे। देखा—उरवित्वकी नर्तकियाँ मार्गमें नाचती जा रही हैं। उनकी मुद्राएँ अभिराम उठती गिरती हैं। उसने सुना, उनके गायनका स्वर—वीणाके तारोंको बहुत न खींचो, नहीं तो वे टूट जायेंगे, और देखो, उन्हें बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे।

ऐ! गौतमका रोम-रोम जैसे उस ध्वनिको पीने लगा—वीणाके तारोंको बहुत न खींचो, नहीं वे टूट जायेंगे, और देखो उन्हें बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे।

प्रकाशकी लपट-सी मनमें उठी सारा तम छूट गया। अन्तर आलोकित हो उठा। अत्यन्त विलास अत्यन्त तपके बीचका मार्ग सूझ गया।

मध्यम मार्ग मज्झिम पटिपदा—न अत्यन्त विलासका न अत्यन्त क्लेशका । मानस थिरक उठा ।

तपकी तपनसे जला, यम-नियमसे कातर शरीर फिर सत्यके स्पर्शसे जी उठा । निरञ्जनाकी क्षीण धारामे उसने वर्षोंका बटुरा मल शरीरसे धो डाला । अकिंचन काया अब स्निग्ध सत्यके प्रकाशसे चमक उठी थी । वृक्षके नीचे प्रसन्न बदन भिक्षु कायिक यातनासे मुक्त सन्तुष्ट बैठा । सुजाता उसकी देव चेष्टासे आकृष्ट हुई । पायसका थाल उसके सामने रख दिया । यतीने देवताओंका वह मधुर आहार लिया । तृप्त कायामें चित्तकी प्रकृत चेष्टा लौट आयी । उस बेलाकी नर्तकियोंका स्वर-संकेत बार-बार कानोंमें गूँजने लगा—बीणाके तारोंको बहुत न खींचो नहीं वे टूट जायेंगे, और देखो, उन्हे बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे ।

२

चला जा रहा था महाभिक्षु राजमार्ग पर । गड़रिया अपने ढोर उसी राह राजद्वारकी ओर हाँके लिये जा रहा था, बकरे, भेड़ें । भेड़ोंका चलना विशेष प्रकारका होता है । झुके सिर, मुँदी-मुँदी सी आँखें, सिर अगली भेड़ोंके शरीरमें धँसे हुए, शरीर एकमें एक, सारी भीड़ एक जिस्म । देर तक भेड़ोंका चलना देखा जा सकता है । भिक्षु भी देखता रहा । उसे उसी ओर जाना था जिससे वह देखना स्वाभाविक सा हो गया था । कुतूहलके साथ चुपचाप वह उन्हें देखता जा रहा था ।

अचानक एक बार आँखें एक ओर टिक गईं । पहले भ्रम-सा हुआ, फिर देखा । ना, वह भ्रम न था । एक मेमना उस भीड़में लँगड़ा-लँगड़ाकर चल रहा था । भेड़ोंकी भीड़ उसे घसीटे लिये जा रही थी, पर भीड़का सहारा भी देर तक उसे न ले जा सका । पैरमे शायद कुछ कष्ट था, रह-रहकर मेमना दर्दकी ध्वनिसे कराह उठता । धीरे ही धीरे वह अगली कतारोंसे पिछलीमें आया और अब और पीछे, और पीछे छूट चला, गड़-

रिया उसे अपने डण्डेसे खोदता, मारता, पर उसकी चाल तेज न हो पाती । वह रह-रहकर चीख उठता ।

भिक्षुसे अब न रहा गया । आगे बढ़कर उसने उसे उठा लिया, बोला—“गड़रिये, तू चल । इधर ही मैं भी चल रहा हूँ, इसे उठाये चलेगा ।”

“अच्छा भन्ते,” गड़रियेने कहा, “पर भेड़ें तो ऐसे चलती ही हैं । उनके कभी काँटे लगते हैं, कभी चोट लगती है फिर वे ठीक भी हो जाती हैं ।”

पर भिक्षु कुछ बोला नहीं । प्यारसे कुछ क्षण वह मेमनेको निहारता रहा । फिर वह उसे कन्धेपर रख गड़रियेके साथ चल पड़ा । उसे लगा एक स्थलपर सहलानेसे मेमनेका कराहना बन्द हो जाता है । भिक्षु उस स्थानपर सहलाता चला । उसके नेत्रोंमें समवेदनाके आँसू उमड़ आये ।

गड़रिया रह-रहकर भिक्षुकी ओर देखता, कुछ मुसकराता, और चल पड़ता । भिक्षुमें गजबका आकर्षण था, ऊँचा दिव्य शरीर, उन्नत मस्तक, अभिराम दर्शन । दर्शकका सिर अपने आप उसके सामने झुक जाता । पर निश्चय गड़रियाकी चेष्टा इतनी श्रद्धाकी न थी जितनी विनोदकी थी । भिक्षुने उसकी चेष्टा देख पूछा—“क्यों गृहस्थ, मेमनेके दुःखसे द्रवित होना क्या विनोदकी वस्तु है ?” “नहीं भन्ते”, गड़रिया तुरन्त बोला, “उसमें विनोद या विस्मयकी कुछ बात नहीं । मैं तो केवल यह सोच रहा था कि जिसे मेमनेका लँगड़ाना देखकर इतनी दया उमड़ पड़ती है उसे उसका निधन कैसे सह्य हो सकेगा और एकका भी नहीं, इतनी भेड़ोंका, इतने बकरोँका ?”

“मतलब ?” भिक्षुने पूछा ।

“मतलब कि पशु ये बलिदानके हैं” गड़रिया बोला । “महाराज अजातशत्रु प्रायश्चित्तके लिए महासत्र कर रहे हैं, एक लाख पशुओंकी बलि

होगी। ये सारे भेड़-बकरे वही लिये जा रहा हूँ जहाँ चारों दिशाओंसे पशु हाँके जा रहे हैं। थोड़ी देरमें ये सभी जीव देवताओंकी पूजामें चढ़ जायेंगे, सभी भेड़े, सभी बकरे, वह मेमना भी।”

भिक्षुने कुछ उत्तर नहीं दिया। चुपचाप सुनता-सा भेड़ोंके पीछे-पीछे चलता रहा। जाना उसे कहीं और था, अब वह उसे भूल अजातशत्रुके महासत्रकी ओर चला। अजातशत्रु और उसके पिता बिम्बिसार दोनों तथागतके जाने हुए थे। पुत्रने पिताको कष्ट देकर मार डाला था। उसी पापका वह आज प्रायश्चित्त कर रहा था, इस महासत्र द्वारा।

तथागतने यज्ञके प्रांगणमें जाकर देखा, हजारों पशु यूपोंसे बँधे हुए हैं। दीक्षित राजा पीताम्बर पहने यज्ञशालामें बैठा है। तथागतको देखते ही वह उठ खड़ा हुआ। आशीर्वचन बोल तथागतने पूछा, “यह पशु-समारोह कैसा, राजन्?”

सिर झुकाये राजा बोला—“पापका शमन प्रायश्चित्तसे होता है, तथागत। उसी प्रायश्चित्तका अनुष्ठान अनन्त बलिदानसे कर रहा हूँ, भन्ते।”

“फिर सुगतकी ही बलि क्यों नहीं देते?” तथागत बोले। “सम्यक् सम्बुद्ध वहाँ पहुँचकर धर्मराजके सामने तुम्हारे पक्षमें कुछ बोल भी सकेगा, ये निरीह अजिह्वा पशु भला क्या कर सकेंगे?”

अजातशत्रु चुप था। महायात्रीकी दया उससे छिपी न थी।

तथागतने भूमिपर पड़ा एक तिनका उठा लिया। राजाकी ओर उसे फेंक उसने कहा, “राजन्, इस तिनकेको तनिक तोड़ो तो।”

राजाने कुतूहलपूर्वक तथागतकी ओर एक बार देखा फिर चुटकीके कम्पनमात्रसे तिनकेके दो खण्ड कर दिये। फिर जो भिक्षुकी ओर उसने अर्थके लिए देखा तो भिक्षु बोला—“अब तनिक इन टुकड़ोंको जोड़कर पूर्ववत् तो कर दो।”

राजा हतप्रभ चुपचाप तथागतकी ओर देखता रहा।

तथागत बोले—“राजन्, जो मृत तिनकेके टुकड़ोंको नहीं जोड़ सकता उसे जीवित हजार पशुओंका सन्धि-विच्छेद कर बलि देनेका क्या अधिकार है ? यज्ञ बन्द करो । प्रायश्चित्त मनका संस्कार है । आर्य सत्त्योंको जानो, अष्टांगिक मार्गका आचरण करो ।”

यज्ञ बन्द हो गया यूँसे बँधे पशु स्वतन्त्र हो गये ।

३

कोसलके राजमें अंगुलिमाल डाकूका आतंक छा गया था । राजा प्रसेनजित् सब जतन करके हार गया था पर डाकू सर न हो सका । उसका अत्याचार बन्द न हुआ । राज्य उजड़ चला । अंगुलिमाल वनसे अपने आततायी साथियोंके साथ निकलता और नगरोंको लूट लेता, गाँवोंको उजाड़ डालता । फिर चुपचाप श्रावस्तीके महावनमें जा छिपता । स्वयं राजधानी चौबीस घण्टे सन्त्रस्त रहने लगी । किसीका जीवन खतरसे खाली न था । वनकी ओर तो कोई भूलकर भी न जाता, जाने भी न पाता । राजाने उस मार्गपर पहरा बैठा दिया था क्योंकि अंगुलिमाल अनेक हत्याएँ कर चुका था, करता जा रहा था । उसने हजार हत्याएँ करनेका प्रण कर लिया था । जब किसीकी वह हत्या करता, स्मरणके लिए उसकी एक अंगुली काटकर गलेकी मालामे गूँथ लेता । अंगुलियोंकी एक भयानक माला ही बन गई थी । इसीसे डाकूका नाम ही अंगुलिमाल पड़ गया था ।

संघके साथ जब बुद्ध श्रावस्ती जाकर ठहरे तब राजाने उनसे अंगुलिमालके भयानक उत्पात और प्रजाके अमित कष्टकी बात कही । बुद्धने कुछ उत्तर नहीं दिया पर दूसरे दिन वे वनके मार्गकी ओर चल पड़े । वनके निकट पहुँचनेपर प्रहरीने उनकी राह रोकी । कहा, “तथागत, उधर विकराल अंगुलिमालका निवास है । वनका मार्ग छोड़कर पधारें ।”

तथागत हँसे, चुपचाप अपने मार्गपर बढ़ते चले गये । अमनुजकर्मा तथागतकी शक्तिपर भला प्रहरीको कैसे सन्देह होता, उसने राह छोड़ दी ।

तथागत घने वनके अन्तरालमें जा घुसे । कुछ घण्टे चलनेके बाद एकाएक किसीने पुकारा—“ठहर जा !”

तथागत ठहरे नहीं । तरु-लताओंके बीच हाथसे राह बनाते चुपचाप चलते रहे । फिर जोरसे दारुण पुकार सुन पड़ी—“ठहर जा !”

तथागत ठहर गये । जिस दिशासे आवाज आई थी उधर देखने लगे । क्षण भरमें भीषण साथियोंसे घिरा धनुष-बाण लिये अंगुलियोंकी माला पहने क्रूरदर्शन अंगुलिमाल सामने आ खड़ा हुआ । पर जो तथागतकी प्रशान्त मुद्रा और मुखमण्डलपर खेलती मुसकान उसने देखी तो उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा ।

“मेरी आवाजसे तो चराचर काँपकर ठहर जाता है । तुम कौन हो जो नहीं ठहरे ?” उसने पूछा, साथ ही अंगुलियोंकी माला भी तनिक ऊपर उछाल दी ।

“मैं तो कबका ठहर गया, अंगुलिमाल, तभी जब सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की । पर भला तू कब ठहरेगा, यह तो बता ? कब इस क्रूर कृत्यसे विरत होगा, कब आवागमनसे विराम लेगा ?” -

बुद्धके निर्भीक स्वरमें अद्भुत शान्ति थी, अद्भुत स्नेह था, अमित आत्मीयता थी । अंगुलिमालने तथागतका नाम कितनी ही बार सुना था, आज उसने उनके प्रकाशपुञ्जको देखा । उनके तेजोमय मुखमण्डलको वह देर तक निहारता रहा । फिर उसने हाथके धनुष-बाण फेंक दिये, तरकश फेंक दी, कटिकी कटार फेंक दी, गलेकी अंगुलियोंकी माला फेंक दी, और तथागतके चरणोंमें लोट वह बोला—“भन्ते, स्थान दो चरणोंमें । अंगुलिमाल क्रूरकर्मसे विरत प्रव्रज्या माँग रहा है ।”

तथागतने अंगुलिमालको तत्काल प्रव्रज्या दी । कोसलके राज्यको डाकुओंके उपद्रवसे मुक्ति मिली ।

जब नन्दने मण्डनका मूल्य चुकाया !

तब संघ कपिलवस्तुमे ठहरा था। बुद्ध भिक्षाटनके लिए निकले। तपाये सोनेकेसे जिस्मपर जोगिया त्रिचीवर खूब फबता था। नीचे अधो-वस्त्र, ऊपर उत्तरासंग, सबसे ऊपर संघाटी। ऊँची अभिराम काया कि देखकर गजराज राह छोड़ दे, देखनेवालेके मस्तक अनायास झुक जायें। अमिताभ चेष्टा, चाल धीमी, चाप भारी तृष्णा-वासनाको जैसे कुचलती हुई, विपुल नयन नीचे।

आज तथागत कहीं और न रुके, चुपचाप भाईकी देहलीपर जा पहुँचे। नन्द सौतेला भाई था, तथागतका अन्यतम भक्त, अनुरागका पुंज, शील-सौहार्दका अनुपम प्रतीक, नकुलको लज्जानेवाले अभिराम कलेवरका निर-भिमानी तरुण। मधुर मंदिर गायक, स्निग्ध उद्वीग्ननमें पारंगत, रेखावर्णका धनी अभिजात कलावन्त।

सिद्धार्थके महाभिनिष्क्रमणके बाद राजा शुद्धोदनके बस दो ही आसरे थे—नन्द और राहुल। राहुल दूरकी तृष्णा था, बालक, यशोधराकी एक-मात्र आशा, बुद्धकी अकेली यादगार। नन्द शुद्धोदनके कार्योंमें सभी प्रकार हाथ बटाता, संथागारमें, महलोंमें, वनोंमें। बुद्धके जानेके बाद राजाका अनुराग इसी नन्दपर केन्द्रित हो गया था।

सुन्दरी उसी नन्दकी विवाहिता थी, अभी हालकी विवाहिता। कविकी निजूठी कल्पना-सी कोमल, कमल-सी अभिराम, हिम-धवल उसकी आभा, दर्पण-स्निग्ध कान्ति। उभरी कोयोंको ढकनेवाली लंबी-भारी पलकें जब उठतीं श्वेत श्याम सागर लहरा उठता, जब गिरतीं कपूरकी डलीपर जैसे दूजका काला चाँद खिंच जाता।

दोनोंकी हृद्गति साथ चलती । दोनों साथ उठते-बैठते, साथ चलते-फिरते, सोते-जागते, खाते-पीते । उनका भाव-बन्धन-स्नेह अखण्ड था । और जगत् जैसे उन्हींके लिए बना था । उन्हींके लिए जागता था । दास-दासियाँ, भृत्य-अनुचर उनकी अहर्निश सेवा कर धन्य मानते । उनके कृपा-कटाक्ष मात्रसे उपकृत हो जाते ।

नौकर मण्डनकी अनन्त विभूतियाँ, शृंगारकी अटूट परम्परा प्रस्तुत करनेमें लगे रहते । विविध वर्णों और गन्धोंके फेनक, हल्की-तीखी मादक सुरभि, कायाको कान्त और स्निग्ध बनानेवाले अनेकानेक अंगराग, विविध शीतोष्ण अनुलेप, चन्दन-उशीरके उबटन, परागबसे चूर्ण, आलक्तक और गन्धबसी मादक मदिरा अनुचर नित्य प्रस्तुत करते, इन्द्रका प्रासाद लजा जाता ।

कादम्बरीके सेवनसे प्रियाकी कान्ति जब रक्ताभ द्युतिमती हो उठती, मंदिर गायक नन्द तब तन्त्री उठा लेता । जैसे-जैसे उसका राग पसरता, नारीका कोमलांग विकल हो उठता, उसका पुलकित गात सिहर उठता । वह अपने कण्ठकित बाहुओंको अपने-ही-आप धीरे-धीरे सहलाने लगती । रागकी लहरियाँ उठतीं और नील अधरमें विलीन हो जातीं । और अभी जीवनका यह आरम्भ था, प्रणयका प्रभात ।

तथागत जब आये, नन्द सुन्दरीका मण्डन कर रहा था । स्नानान्तर धूप और अगुरुके धुएँसे उसने उसके केश सुखाये, फिर उन्हें अभिमत बसे तेलसे स्निग्ध किया । चन्दनके स्पर्शसे अंगांग शीतल हो गये, गमक उठे । होठोंको आलक्तकके स्पर्शसे लाल कर उसने उनपर लोधचूर्ण छिड़क दिये जिससे उनकी आभा पांडुर हो गई । केशोंको एकत्र कर जब नन्दने उन्हें एक गुच्छमें पीछे बाँधा तब उसे सन्तोष न हुआ, उसने उन्हें झटकेसे खोल दिया । फिर उनकी अनेक बेणियाँ बना उनमें लाल-पीले कुसुम डाले और उन्हें पीछे एकके ऊपर एक सजा छत्राकार गुंजलकके रूपमें प्रस्तुत किया ।

सीमन्त और केशतटको आकर्ण निर्मल कान्तिके मोतियोंसे सजा दिया । कान नीलमणिके मकराकृत कुण्डलोंसे दमक उठे ।

वैदूर्य-पात्रोंमें रखे चन्दन-कालेयक-केसरके लेपकी ओर फिर नन्द झुका । सुन्दरी पतिके प्रयासका फल दर्पणमें देख अघा गई । जब उसने उसे पात्रोंमें शलाकासे लेप फेटते देखा तब वह रजत-पीठ पर जा बैठी । नन्द भद्रपीठ पर बैठ उसके कपोलोंपर पत्रलेख करने लगा । श्वेत-रक्तिम हल्के-गाढे रंग शलाकाके घुमाते ही खिल उठे । पहले उसने ललाटके मध्य-नीचे नन्हीं-नन्हीं केसरकी बिन्दियोंका वृत्त बनाया और उनके बीच केन्द्र-बिन्दु श्वेत चन्दनका लिख 'भक्ति'को सुधराई देखनेको जब उसने प्रियाका चिबुक उठाया तब सुन्दरीके हाथोंका दबाव नन्दके कन्धोंपर पड़ा । प्रकृति और कलाकी उस सृजन-सीमाको सामने देख नन्दका अन्तरंग-बहिरंग नाच उठा । प्रियाके होंठ उसने निःशब्द चूम लिये ।

फिर नन्द शेष-सम्पादनकी ओर झुका । चिबुकके कन्दर्प गर्तमें अञ्जन-की उसने बिन्दी डाली । काली बिन्दी धवल पृष्ठभूमिपर चमक उठी । बकुलकी फूटी कंठियोंकी भाँति फिर उसने दोनों ओर भरे कपोलोंपर नयन-कोरों तक दो टहनियाँ लिख दीं । फिर उनसे चन्दनकी और नन्हीं टहनियाँ फूटीं जिनपर लाल नन्हें फूल खिल उठे । दोनोंके तन रह-रहकर कंटकित होने लगे ।

पर ठीक तभी जब तूलिका केसरके पात्रसे नन्दने उठाई ही थी कि वातायनमें उसकी दृष्टि गयी । तथागतका उन्नत शरीर दृष्टि-पथमें आ अँटका । तथागत शान्त-गम्भीर मुद्रासे नेत्र नीचे किये लम्बे ङग भरते चुपचाप चले जा रहे थे, भिक्षापात्र रिक्त था । नन्दकी सारी चेष्टा सहसा कुण्ठित हो गई । तूलिका शिथिल पकड़से छूट फर्शपर गिर पड़ी । सुन्दरी पतिकी अप्रत्याशित भावभंगी देख घबड़ा कर खड़ी हो गयी । पूछा, "उद्देग कैसा, आर्यपुत्र ?" फिर जो खिड़कीकी ओर दृष्टि गयी तो उसने तथागतको रिक्तपात्र जाते देखा ।

सुन्दरीके अनुराग-बन्ध भी शिथिल हो गये। तथागत द्वारपर आये, देहलीमें भिक्षापात्र बढ़ा गृहस्थको करणीय उपदेश कहा। पर किसीने उनपर ध्यान न दिया। गृहका स्वामी प्रेयसी-पत्नीके श्रृंगार-मण्डनमें रत था, दास-दासी उनके विलासार्थ अंगराग-अनुलेप, मंडनादिके विविध उपकरण प्रस्तुत करनेमें व्यस्त थे। कौन सुनता ?

धीर-गम्भीर स्मित हास्यके घनी बुद्ध चुपचाप चले गये। रिक्तहस्त भूखे तथागतको अपनी देहलीसे लौटते देख भाईका अन्तर आकुल हो उठा। नन्द और सुन्दरीकी आँखें चार हुईं, चारोंमें नीर भरा था।

नन्दने कहा—“सुन्दरि, आज तथागतके भिक्षाका दिन था !”

नन्दके स्वरमें मथी व्यथा थी।

सुन्दरीका मण्डन अपूर्ण था, उसमें विघ्न होना अशुभका परिचायक था, सौभाग्यकी चिन्ता मण्डित सौन्दर्य पर सर्पवत् कुण्डली मार बैठी। तथागतकी अवमाननाका कारण फिर अपने आपको जान ग्लानि हुई। नन्दका विशेष उत्तर न देकर उसने केवल धीरेसे पूछा—“फिर ?” शंकित स्वर उसके भयका परिचायक था।

नन्दने सुन्दरीकी सकारण शिथिलता देखी। उसके दोनों कन्धोंको पकड़े आतुरस्वर वह बोला—“जाने दो मुझे क्षण भरको, प्रिये, जाना ही होगा। तथागतको मना कर निमिषमें अभी लौटा आता हूँ। मण्डनमें यह विघ्न क्षमा करो।”

“जाओ, प्रिय, राग-रंजनसे भिन्न हैं तथागतके वे दिव्य चरण। उन्हें लौटा लाओ। पर देखो, इसके पहले कि मेरे कपोलोंके गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना।” स्वर-राग शिथिल था, संकोचबिह्वल। अघटित अशुभकी आशंकाको दबाती याचना स्वरकी राह फूट पड़ी थी।

प्रकोष्ठसे उतरते हुए दोनोंके अपराधी जैसे नन्दने जब सुन्दरीकी ओर देखा, उसका अन्तर बिलख उठा, गलीसे बार-बार मुड़कर उसने प्रियाके सुलगते अन्तरको देखा। फफकते-बिललाते अन्तरको दबाये सुन्दरी नन्दको

देखती रही। व्यथित काया निस्पन्द थी, रोम-रोममे याचना थी। आँखों-मे बड़ी-बड़ी बूँदें टँगी ही टँगी सूख गईं।

नन्दने अनुनय की। तथागतने हँस दिया। उसके कन्धेपर प्यारसे हाथ रखा, हाथमे भिक्षापात्र पकड़ा दिया। संघसे निवासकी ओर बढ चले। आकुलअन्तर नन्द भिक्षापात्र लिये चुपचाप पीछे-पीछे चला। आकुल था कि तथागत आज निराहार रहे।

उधर हृदय मथा जाता था। टीस उठ रही थी। सुन्दरीको शृंगारके बीच ही छोड़ आया था। उसने कहा था—“इसके पहले कि मेरे कपोलों के गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना।” पर वह लौटे कैसे? भिक्षा-पात्र तथागतके हाथमे देनेकी दुःशीलता कैसे करे? विलासरत वह उपेक्षाका घृणित अपराध पहले ही कर चुका था। चुपचाप अवसरकी आशामे बुद्धके पीछे वह चलता गया। पर अवसर हाथ आया नहीं। वह बार-बार कुछ कहना चाहता, बार-बार तथागत उसकी बात मुँहसे निकलनेके पहले ही कुछ पूछ बैठते, बात बदल जाती। भीतरकी बात भीतर ही रह जाती। नन्द विकल हो उठता।

अन्तरको यत्नसे समेट साहस कर नन्द फिर कुछ कहना चाहता, तथागत प्रणाम करने वाले लोगोंसे आशीर्वचन कहने लगते, क्षेम पूछने लगते। राजमार्ग छूट गया, बीथियाँ चुक गईं, कालके क्षण दीर्घ होते हुए भी सत्वर निकलते गये, पर बुद्धको नन्दकी बात सुननेका समय नहीं मिला। नन्द अपनी बात कह नहीं सका। सुन्दरीके क्षण कल्पवत् बीतते रहे। मण्डन उसका उपहास कर उठा।

तथागत नगरसे बाहर हो गये। नन्द भिक्षापात्र लिये उनकी छायाकी भाँति चुपचाप पीछे-पीछे चला, कुछ गुनता, सुन्न। और वे दोनों अब अकेले भी न थे। जनसमूह तथागतके पीछे चल रहा था। यही उनके उपदेश का समय था। संघ स्वयं शाक्यसिंहकी प्रतीक्षामें था। असंख्य नर-नारी निकट-दूरके गाँवोंसे आये हुए थे, कपिलवस्तुके नागरिकोंसे सघस्थली भरी थी।

तथागत नन्दपर स्मित दृष्टि डाल उपदेश-वेदीपर जा बैठे। जन-हिताय उनकी वाणी सस्वर हुई। पहला पहर बीत गया। नन्द भिक्षा-पात्र लिये उद्विग्न उन्मन खड़ा था। तथागतके मंगल-वचन उसके कर्ण-कुहरोंको न बेध सके। उनमें सुन्दरीका अनहद नाद भरा था—“इसके पहले कि मेरे कपोलोंके गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना !”

तथागत उठे, नित्यके कार्यमें लगे। नन्दसे मिलनेका उन्हें अवसर न मिला। सुन्दरी प्रकोष्ठमें खड़ी अब भी खिड़कीकी राह देख रही थी। श्रृंगारके फूल उसने मसल डाले, सीमन्त-केशतटके मोती उसने बिखेर दिये, मण्डनके भक्ति-विशेषक (पत्रलेख) उसने शक्ति भर पोंछ दिये। नन्दकी बिलखती आँखें उसकी आँखोंमें गड़ी चुभती रहीं, पर नन्द नहीं आया।

नन्दको तथागतने बरबस काषाय चीवर दे दिये थे। व्याकुल नन्द आचार के लाजसे तथागतकी उपेक्षा न करता, पर तथागत उसका इष्ट जान कर भी उसकी उपेक्षा करते गये। उसका विलासकी ओर लौटना उन्हें अभीष्ट न था।

दिन बीते, सप्ताह बीते, माह बीते। निदाघकी आग चराचरको झुलस गई, पावसके मेघ बिलख-बिलख रोये, शरत्का निर्मल आकाश व्यंग हँसा, हेमन्तने कमल-वनको उपल मारे, शिशिरके उधरे-नगे तरु-लताओंपर कामुक वसन्तने पल्लव-फूलोंके वितान-ताने, पर नन्द न लौटा।

रोम-रोम उसका शिथिल था। उसके अंतरंगका कण-कण क्रन्दन कर रहा था। धीरे-धीरे प्रकृतिके उपकरण उसके लिए सारहीन हो गये। दृश्य जगत् उसे निरर्थक लगने लगा। धीरे-ही-धीरे उसकी कान्ति निष्प्रभ हो चली, चेष्टा भावहीन, मानस निरीह। सुन्दरीकी स्मृति उसे हज़ार संकेतोंसे बुलाती पर नन्द जड़वत् पड़ा रहा। जब तब उसे सुन पड़ता—“इसके पहले कि मेरे कपोलोंके गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना !”

यशोधराका कबका सूना पड़ोस भी सुन्दरीके क्रन्दनसे नये स्वरसे बिलख उठा, पर नन्द न लौटा, न लौटा।

मुगलिया दस्तरखान और शेर !

बापकी जागीरपर दूसरी माँके दाँत लगे थे और मासूम नौजवान बीरानोमें भटक रहा था । आज जौनपुरके दरबारमें नौकरी कर ली, कल कुरान नकल कर लिया, परसों तलवारका हाथ मार शेरका काम तमाम किया । पर मक़सद उसका नौकरी न था, न कुरान नकल करना, न शेर मारना । लोहानियोंसे उसके साझेका कोई अर्थ न था, आँखें उसकी दिल्ली-के तख़्तपर लगी थीं, उस शेर खांकी ।

चुनारके घेरेसे वह बिजलीकी तरह निकल गया था, जौनपुरकी लड़ाईमें तलवार म्यानमें कर वह बाबरसे जा मिला था । बाबर लमहे भरमे उसे भाँप गया । लिये-लिये आगरे पहुँचा । बंगाल और बिहारमे लोधी अब भी प्रबल थे, राजमहलसे कनौज तक लोहानियोंका विकट मोर्चा था । शेर खां हर मोर्चेका मरकज़ था ।

आगरेके नये खुदे तालाबोंके बीच नये लगे बगीचोंमें, राजा बिकरमाजीत कछवाहेके पुराने महलोंके सामने बाबरने सल्तनतकी पहली दावत की । दावतमें खास मेहमान रूखा शेर था जिसने सिवा जंगलमें खुले दहाड़नेके न कभी मुगलिया एखलाक जाना, न दस्तरखानकी शाही न्यामतें जानीं । देहाती अफ़ग़ान, खूंखार भोजपुरिया, शोख किसान, रैयतका प्यारा शेर बाबरका बगलगीर हुआ ।

बाबरकी तेज़ निगाहने उस खतरेको पहचान लिया था जो उसके प्यारे बेटे हुमायूँके भविष्यपर काले मेघकी तरह छा सकता था । उसे उसने कुचलकर नहीं सुलहसे सर करना चाहा । उसने सोचा, कुछ अजब नहीं जो दस्तरखानका याराना सुलूक मैदानकी तोपोंसे कहीं ज़्यादा कामयाब हो जाय ।

दस्तरखानपर खानेकी अनेक किस्मे चुनी गईं, एकसे बढ़कर एक । पुलावकी बेइन्तहा किस्मे—ईरानी, नरगिसी, नूरमहली, मोती । रोटियोंके प्रकार—नानतुनक, नानगुलजारत, हवाई चपातियोसे भारी शीरमाल तक; गोश्तकी अनगिनत थालियाँ, बीचमें मुर्गमुसल्लम; और मादकसे मादक शराबसे भरे सागर । दिनोंकी तैयारियाँ, प्लेटोंसे भापके साथ उठनेवाली कस्तूरीकी खुशबू, नजरको बेबस कर देनेवाले जायफ़रानके रंग । फलोंके बेशुमार ढेर, मिठाइयोंकी बेइन्तहा कतारें, शोरबे, स्पहले वरकोसे दबी फ़िरनियाँ ।

सुनहरी थालें, जिनकी चमक और चिकनाहटपर निगाह फिसल पड़ती थी; सैकड़ो चित्रित प्लेटें, क्रीमतीसे क्रीमती, जिन्हे दौलत और लूट मुहैया कर सकती थी, जिन्हें चीनकी अनुपम कला सिंगार सकती थी, हज़ारों रिक़ाबियाँ, बिल्लौर और पन्नेकी, लाल और नीलमकी, उन कागज़ी पत्थरोंकी जिनका वज़न झड़े परोसे हल्का था, नज़र जिनके पार देख लेती थी, पैमानोंकी हज़ार-हज़ार किस्में जिनकी धातु नज़रसे ओझल रहे, जिनके पेय जैसे निराधार मेज़पर खड़े हों । छुरी, चम्मच और काँटे, जिनके इस्तेमालका तैमूरिया खानदानको खासा ग़रूर था । कहते हैं इनका इस्तेमाल, इनके खास तरीकोंका इस्तेमाल, मुगलोंने चीनियोंसे सीखा था, तुर्कोंको सिखाया था, तुर्कोंने यूरोपको ।

और दावतका मेज़बान था चीनी चंगेज़ और समरकन्दी तैमूरकी एख़लाकी बुलन्दियोंका वारिस क़लन्दरी बाबर । और मुग़लिया एख़लाकके लामिसाल पाबन्द हुमायूँके इंतज़ामकी ही यह दावत नमूना थी । मुग़ल दावतोंका दस्तूर अपना था, उसकी तमीज़ अपनी थी, रस्में अपनी थीं । मज़ाक मगर निहायत शाइस्ते, पुरलुत्फ़, जब-तब तीरकी तरह तीखे । बाबर लासानी खुशख़त था, क़लमका बादशाह, इबारतके राज़का माहिर । हल्की चुटकियोंके बीच आबेहयातकी चुस्कियाँ चलतीं, प्लेटोंपर काँटे फिसलते, छुरियाँ चलतीं, पर क्या मज़ाल कि कहीं ज़रा-सी आवाज़ हो

जाय । दस्तरखानके रवैयेको बाबर नमाजकी निष्ठासे निवाहता । उसी दस्तरखानको ओर बाबर शेरको ले चला ।

शेर खाँ बीचमें बैठा, उसके बायें बाबर, दायें हुमायूँ, दोनो ओर अस्करी और हन्दाल और सामने और दूर तक दोनों ओर सल्तनतके उमरा बैठे । मुगलिया अमीरोंकी बेइन्तेहा नस्लें थीं, उनकी शान शाहोंको नसीब न थी । अमीरी गुत्तल-कन्दोज़ने, बलख-बदख्शाँके, समरकन्द-बुखारा के, बामियान-खुरासानके, दमिश्क-कुस्तुन्तुनियाके । बातके धनी, तलवारके चितेरे, चुप थे । एक अजीब खामोशी छाई हुई थी । थी वह दावत, जशन उसका मक़सद था, पर उमरा बाबरकी वह बारीकी समझ न पाये थे जिसने शेर खाँ जैसे पुरबिये किसानको, गँवार पठानको यह रौनक बख़्शी थी ।

उस चुप्पीमें शेरको बेइज्जत करनेकी हसरत भरी थी । कहाँ मुगलिया दस्तरखानका एखलाक और तमीज़, कहाँ बिहारका वह फूहड़ मुंहफट बेडौल अफ़ग़ान, नाचीज़ लोहानियोंका नाचीज़ नौकर । कुतूहल था, कैसे खायगा ? कैसे छुरी पकड़ेगा, कैसे काँटा ? इनसे उसे छुआछूत कहाँ ? मज़ा आ जायगा । चाहे ऐसे गँवारको शाही दावतका मेहमान बनाना अमीरोंको खल गया हो, बेशक उसकी तहज़ीब रंग लायगी, ग़जब ढायगी । छुपी नज़रें चुपचाप एक दूसरेसे मिल रही थीं, घमण्ड और हिकारत भरी अपनी तजवीज़ें एक दूसरेसे बदल रही थीं ।

शेर चुप था । बाबर समझ रहा था कि शायद शाही शान उसके मेहमानको दबाये दे रही है, मुगलिया अमीरोंका रोब उसपर ग़ालिब हो रहा है । मेहमानको वह सिर-आँखोंपर लिये हुए था । अमीरोंका छुटपन उसमें मुतलक़ न था । खुद नाचीज़ बना हर तरहसे वह उसकी पसन्द जाननेकी कोशिश कर रहा था, इसकी भी कि शेरको वह अनजानी, तहज़ीब बोझ न हो जाय । बार बार वह ऐसी बातें कहता जिससे पठान हँसे, बोले, 'उससे अपनापा ज़ाहिर करे । खाना शेरको ही शुरू करना था,

रस्मके मुताबिक, क्योंकि मेहमान वही था। इससे सब उसीकी ओर देख रहे थे। सही, ऐसा दावतका अन्दाज उसे सपनेमें भी न हुआ था। अकेला होता तो शायद परेशान हो जाता कि किस चीजसे खाना शुरू करें। उसकी तेज़ नज़रोसे छिपा भी न रहा कि गो बाबरका सुलूक उसके साथ बेवनावट है, अमीरोंकी निगाहे मतलबसे खाली नहीं।

बाबरने उसकी ओर देखा, फिर सामने रखे मुर्ग-मुसल्लमकी ओर इशारा किया। शेर छिन भर चुप रहा, एक बार काँटे-छुरियोंकी चमक उसकी नज़रमें कौंधी। सहसा वह हिला और उसने बगलसे खंजर खींच लिया। आँखें चमकीं, यकायक बीसियों तलवारें म्यानोंसे निकल पड़ीं। पर बाबर खामोश था, गो उस ओरसे नामुखातिब भी न था। जानता था कि ज़रूरत पड़ी ही तो उसकी कलाईमें क़ब्रत है। बगलोमें जवान दबा क़िलेके परकोटोंपर वह दौड़ चुका है, तीस-तीस चोटमें दरियाको पार कर चुका है। अगर पठान शेर है तो वह भी आखिर बाबर है।

पर शेर खाँको न तो बाबरके इन विचारोंका पता था, न खूनकी प्यासी उन तलवारोंका जो उसके सिरपर झूल रही थीं। वह खंजरसे मुर्ग काट उसके टुकड़े खंजरकी नोंकसे उठा-उठा खामोश खाये जा रहा था। तमीज़दार अमीर आँखें फाड़-फाड़ उसे देख रहे थे।

बाबरकी नज़रसे तलवारें म्यानोंमें लौट गयीं। खाना शुरू हुआ, खामोशीमें। खामोशीमें ही खत्म भी हुआ। ग़जबकी मुर्दनी दावतपर छाई हुई थी जो शराबके दौरोंसे भी न टूटी, बाबरकी मुसकराहट, उसकी चुहलबाज़ियोंसे भी नहीं। उसकी चुहलके जवाबमें अमीरोके कहकहे अस्वाभाविक लगते, उनकी खोखली आवाज़ जैसे बेमानी हो जाती।

खाना खत्म हुआ। अमीर शेरको खुश करनेके लिए उसे घेरकर खड़े हुए, दस्तरके मुताबिक उसे नज़रें देने लगे। बाबर तभी हुमायूँको एक ओर खींचकर कह रहा था—“बेटे, उस पठानसे होशियार रहना,

मक़सद हासिल करनेके लिए वह किसी जरियेको बेजा न समझेगा। कोई क्रौल, तहज़ीबकी कोई पाबन्दी उसके आड़े नहीं आ सकती !”

हुमायूँ इस सीखका भेद तब न पा सका। उसका राज उसने बादमें जाना जब शेरशाह पच्छिमका नाका-नाका बन्द किये बक्सरके पास चौसेमे उसे उसीके खेमोमें कैद कर बैठा था। हुमायूँ तबाह था—राहें बन्द थीं, रसद मिलनी दुश्वार थी फिर भी वह हिल तक न सकता था। और शेर आखिरी उछालके लिए पूँछ पटक रहा था।

हुमायूँने आधीरात तक सरदारोंसे मशविरा किया। तय पाया कि सुलहका पैग़ाम भेजा जाय। उसे लेकर राजदूत जब शेरशाहके खेमोमें गया तब सरदारोंने मजदूरोंसे भरी खाइयोंकी ओर इशारा किया। राजदूत समझ न सका पर उसने जो देखा वह यक़ीनके बाहर था—शेरशाह कमर कसे अधनंगे बदन फावड़ा चलाये जा रहा था। चाँदनीमें दूतने देखा, शेरके दमकते गोरे बदनसे पसीना चू-चूकर जमीनको गीला कर रहा था, और खाई वराबर चौड़ी होती जा रही थी।

सुलह हुई। हुमायूँकी सेनामे जशन होने लगे। यकायक सुबहकी गोधूलीमें तलवारें चमक उठीं—शेरने हमला किया था। हुमायूँ घोड़ेपर भागा। गंगा चढ़ी थी, पर दुश्मनकी चढ़ाई उससे ज़्यादा खतरनाक थी। और उसने भरे दरियामें घोड़ा कुदा दिया। भिस्ती न होता तो शाहजादेकी ज़रा सी जान गई ही थी।

और जब बीरानोंकी खाक छानता हुमायूँ ईरानकी ओर भागा जा रहा था तब उसे बापकी नसीहत बार-बार याद आ रही थी—“बेटे, उस पठानसे होशियार रहना। मक़सद हासिल करनेके लिए वह किसी जरियेको बेजा नहीं समझेगा। कोई क्रौल, तहज़ीबकी कोई पाबन्दी उसके आड़े नहीं आ सकती !”



जब जानमाज़के नीचे दिल्लीका तख्त पड़ा था !

सिन्धु, आमू, यारकन्द, ब्रह्मपुत्र—चारोंका स्रोत जोरकुल झीलमें है। जोरकुलपर पामीरोंका साया है। पास ही कश्मीरके उत्तर गिलगितके उतारपर कम्बोज है और पच्छिम आमूके घेरेमें वखाँ। आमू पंजेकी अँगुलियोंकी तरह अपनी शाखें फैलाये नीचे उतर जाती है, वक्षाब और अक्षावके द्वाब खुत्तलको पीछे छोड़ती। बायें चित्राल और हिन्दूकुश छोड़ती, बदख्शां और बलखकी खुशनुमा घाटियाँ सींचती, मैदानोंमें बल खाती नदी अरलके समुद्रकी ओर ढुलक जाती है।

बलख (बाख्त्री, बह्लीक) की घाटी बराबर हमलावरोंको आकृष्ट करती रही है। ग्रीक, शक, कुशान, बार-बार ईरानियों और एक दूसरेसे टकराते रहे हैं। कभी उसकी यादने फ़िरदौसीकी कलममें जादू भर दिया था; 'शाहनामा' के सफ़हे बदख्शां-फ़रग़ानाकी रौनक और दिलेरीसे भर गये थे। आमूके तीर ईरानी सूरमा रुस्तमने वहीं कभी अपने बेटे सोहराबको भालेपर तोल दिया था। वहीं सिकन्दर कभी हिन्दूकुश लाँघ दाराके भगोड़े शाहजादोंकी खोजमें उतर पड़ा था।

कभी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने सिन्धुकी सातों धाराओंको पार कर कोजक अरमान पहाड़ोंको बगली दे उसी बह्लीक (बलख) में हूणोंको धूल चटा दी थी, फिर उसके घोड़े जो आमू तीरकी केसरकी क्यारियोंमें आलस-से लोट पड़े तो उनके अयाल फूलोंसे लाल रँग गये थे। उसी बलख-बदख्शां के लिए बाबरने तेरह-तेरह बार तलवार तोड़ी थी। उसकी औलादने बार-

बार मार खाकर भी उधर रुक किया—अकबरने, जहाँगीरने, शाहजहाँने ।

उसी बल्लमें, आमू दरियाके तीर—

आमू रंगती चली जा रही है । उसके आँचलकी क्यारियोंपर जवानी बरस रही है । केसर फूली हुई है, लाल-लाल । पर लहूसे सिंची भी है । ज़मीन इन्सानके खूनसे तर है । दरियाका पानी रक्तसे रंग गया है । घाटी मारो ! मारो ! की आवाज़से गूँज उठी है । मैदान तड़पते घायलों और लाशोंसे पट गया है ।

तीन दिनसे घमासान छिड़ा है । दिल्लीके मुग़लोंने दूरकी बपौतीपर छापा मारा है । चार पीढ़ियाँ लड़ती रही है, पाँचवीं दखल कर सकी है पर उजबक तुर्कोंको यह मंजूर नहीं कि ग़ैर उनकी ज़मीनको भोगें, उनपर हुकूमत करें । शाहजहाँने बल्ल-बदख्सांकी उस केसरिया ज़मीनपर कब्जा कर लिया था पर उसका इक़बाल अकेला उस इलाक़ेको न सम्हाल सका । उजबक बेगके रिसालोंने उसे मुग़लोंसे छीन लिया । शाहजहाँने कुमक भेजी । औरंगज़ेब दूर दकनसे उसे लिये आ धमका । घमासान मच गया । उजबकोंके धावे जगत्प्रसिद्ध थे । उन्होंने शाही फ़ौज़को तितर-बितर कर दिया । उसे लाज बचाना कठिन हो गया ।

शाम हो चली थी । उजबकोंकी तेगें मुग़ल सेनाकी पीठपर जख़्म कर रही थीं । औरंगज़ेब अपनी मुट्ठी भर हरावल लिये भयानक मार कर रहा था । उसकी दिलेरी दुश्मनोंको जीतमे भी बेताब कर रही थी । सूरजका गोला सहसा पहाड़ियोंके पीछे सरका । मग़रिबका नमाज़ सिरपर आया । औरंगज़ेब आज तीसरे पहरसे ही हाथी छोड़ घोड़ेपर आ गया था । हमलेकी चीख-पुकार और बरसते तीरोंके बीच वह घोड़ेसे उतर पड़ा । लड़ती फ़ौज़ोंके बीच दुश्मनोंसे घिरी ज़मीनपर उसने जानमाज़ बिछा लिया, वह नमाज़ अदा करने लगा ।

साथी बड़ी सम्हालके साथ पीछे हट रहे थे, रणबाँकुरे राठौर और बिकट बलूची, बाके मुग़ल और बीहड़ पठान । सहसा वे रुक गये ।

शाहजादेको घेरकर खड़े हो गये, दुश्मनके नेत्रों ने अपने सीनोंपर लिये । नेत्रों रुक गये, तीर तनी कमानोंपर चढ़े रह गये, सन्नाटा छा गया ।

किसीने दौड़कर दुश्मन कबीलोंके सरदार बेगसे कहा । खून टपकती नंगी तलवार लिये बेगने देखा और देखता रह गया । बोला—“खबरदार जो किसीने उसे हाथ लगाया ! चलो, छोड़ो, उसे कल जीत लेंगे । उसे नमाज मुबारक ! ग़ज़बकी दिलेरी है इस दीवानेमें ।”

बेग रिसालोंके साथ उत्तरके धुँधलकेमें बढ़ा, आमू दरिया हैरतमें आ ज़रा ठमका फिर मैदानोंमें रेंग चला, अपनी यादें सम्हालता, जैसे कल-कल आवाज़से पूछता—यह कौन है ? ऐसा तो किसीको न देखा—न रुस्तम सोहराबको, न दारा-सिकन्दरको, न शक-कुशानोंको, न बिकरमाजीत को !

शाहजादोंमें जंग छिड़ चुका है । दिल्लीके तख्तपर बैठना कुछ खेल नहीं । चार-चार है, बैठना एकको है, और वह एक तभी उस तख्तपर बैठेगा जब बाक़ी तीन क्रममें सो चुके होंगे ।

धरमातकी लड़ाई औरंगज़ेबकी कीरत जसवन्तकी पीठपर लिख चुकी है, रक्तसे लाल सिप्रांमें आठ हज़ार राजपूत जलसमाधि ले चुके हैं । पर आखिरी फ़ैसला सामूगढ़में होनेवाला है । मुग़लोंकी राजधानीमें चारों ओरसे फ़ौज़ें उतर पड़ी हैं, उमड़ी आ रही हैं । सल्तनत ख़तरेमें है । शाहंशाहकी औलादने उसके ख़ूब देखनेकी ज़रूरत की है, शेरकी मूँछका वाल किसीसे छू गया है !

बूढ़ा बीमार शाहजहाँ दिल्लीसे भागा-भागा आगरे पहुँचा । दाराके मुँहपर कालिख पुती है, राजपूतोंके मुँहपर भी । दोनों औरंगज़ेब और मुरादके खूनसे उसे धोयेंगे । एक लाख सवार, बीस हज़ार पैदल, अस्सी तोपें लिये दारा आज मैदानमें उतरा है । सल्तनत और शाहजहाँकी शान, किस्मत और राजपूती आन सब कुछ दाँवपर है । दकन और गुजरात, दिल्ली और राजपूताना आज जूझनेपर उतारू हैं ।

गरमी जवानीपर है, आगरे-सामूगढ़की गरमी, सात जूनकी। सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। एक दूसरेको घूरतीं। जवाँमर्द गरमीसे बेहाल हैं, कवचोंके भारसे दबे गरमीसे बेहोश हुए जाते हैं। घोड़े रानोंके नीचे तिल-मिला उठते हैं, जहाँ-तहाँ चुप-चाप बैठ जाते हैं, ढेर होकर, फिर नहीं उठते।

सुबहका वक़्त है, अभी तक लू चलती रही है, और अब सूरजका लाल दहकता गोला तेजीसे उठता आ रहा है। औरंगज़ेब व्यूह बनाता है—हरावलमे दकनकी फ़ौज़ लिये वह आप है, उसके दायें बाजू अपने गुजराती रिसालोंके साथ मुरादबख़्श और दायें बहादुर खाँ। हरावलके सामने तोपखानेके साथ औरंगज़ेबका बेटा मुहम्मद खड़ा है।

दाराकी फ़ौज़बन्दी उसका जवाब है। सामने उसकी तोपें फ़ौलादी जंजीरोंसे जकड़ी हैं जिससे दुश्मनके रिसाले उनकी कतार तोड़ न दें। तोप-खानेके पीछे पीतलकी हल्की तोपें लिये ऊँटोंकी कतारें हैं, उनके पीछे पैदल बन्दूककी। ख़लील-अल्लाह खाँ दाहिने तोड़पर है, रस्तम खाँ बायें बाजू और दोनोंके बीच हरावलके मोर्चेपर खुद दारा, मौतसे रार करनेवाले अपने राजपूतोंको लिये।

सहसा तोपें दग उठीं, हाथी-घोड़ोंको भड़कानेके लिए शोले फेंके जाने लगे, बन्दूकोंसे लपटें निकलने लगीं, तीर हवामें उड़ने लगे। दाराका अगला भाग उसके बेटे सिफ़िर शिकोहके जिम्मे था। उसने ज़ोरसे टकराकर मुहम्मदकी तोपें तितर-बितरकर दीं। साथ ही रस्तमने धावाकर औरंगज़ेबके दाहिने बाजूपर चोट की। लगा कि बाजू चकनाचूर हो जायगा पर हरावलने घूमकर उसे सम्हाला। अब तक दोनों ओरके व्यूह टूट चुके थे। सभी सबके निशाने थे।

मेघकेसे स्याह सिंहली हाथीपर चढ़ा दारा घुड़सवारोंसे घिरा आगे बढ़ा और औरंगज़ेबपर जा टूटा। हजार जानोंके दामों उसने दुश्मनकी

तोपोंपर कब्जा कर लिया; साँड़नी सवार और पैदल उसकी चोटसे कुचल गये। घुड़सवार घुड़सवारोंसे टकराये, जानें हथेलियोंपर नाचने लगीं। दारा बाबरकी जंगी बुलन्दियाँ रौंदने लगा, राजपूत अपनी नस्लके जौहर दिखाने लगे। तरकश खाली हो गये, भाले टूट गये। तब दारा और राजपूत नेजे और तलवार लिये शत्रुकी कतारोंमें पिल पड़े। शत्रु भागा।

औरंगजेब अड़ा रहा। किस्मतने, लगा, करवट ली। पर वह जमा रहा उसके रिसाले चोट खाकर पीछे हट गये थे। मुश्किलसे हजार घुड़सवार उसे घेरे लड़ रहे थे। बार-बार मुराद खबर भेज रहा था—“लौटो, भाईजान, लौट पड़ो। मैदानमें मौत उतरी है। जीत आज न सही, कल सही, पर जानको मौतके हवाले न करो !”—खुद शेर-सा दहाड़ता, लड़ता। तीन हजार उजबकोंने उसपर एक साथ हमला किया, रन्तेला राजपूतोंके बीर सरदार रामसिंहने हौदेकी रस्सी काटनेको बर्छा फेंका। मुरादने ढाल पीछे बैठे बालक बेटेपर उड़ा दी और रामसिंहको ढेर कर दिया।

औरंगजेबने भाईका सन्देश सुन लिया था, पर उत्तर उसका उसने और तरह दिया। “हाथीके पैरोंमें कांटेदार जंजीरें डाल दो, जंजीरें जमीनमें गाड़ दो। सामूगढ़का मैदान करबला होगा।” हाथीके पैरों कांटेदार जंजीरें पड़ गईं, जंजीरें जमीनमें गाड़ दी गईं। सूरजके घोड़े ठिठक गये।

फिर आवाज़ आई—“दिल, यारों ! खुदा है खुदा है !” दकनी-गुजराती रिसाले साहस कर लौट पड़े। सहसा चमकता सूरज बीच आसमानसे गायब हो गया। शामतका मारा दारा हाथीसे उतर फ़ौजकी नज़रोंसे ओझल हो चुका था।

फिर क्या था, भगदड़ मच गई। केवल बूँदीके राजपूत केसरिया लेबासमें रावराजा छत्रसालके पीछे औरंगजेबके हाथीकी ओर बढ़े जा रहे थे। पिछली रात सीकरीकी सूनी दीवारोंके सायेमें रावराजाने प्रेयसी

जहाँनाराको वचन दिया था—“शाहजहाँका सिंहासन जो खतरेमें पड़ा तो मैदानसे नहीं लौटूँगा !”

कठोर विकराल छत्रसाल चुपचाप भागते मित्रों, उमड़ते शत्रुओके बीच औरंगजेबके हाथीकी ओर बढ़ा चला जा रहा था । उसके राजपूत उसी-की तरह कठोर विकराल चुपचाप घोड़े बढाये दुश्मनोंमें धँसे जा रहे थे । औरंगजेबका हौदा तीरों और भालोंसे बिधा कांटोंभरी साही-सा दीख रहा था ।

मौतकी जैसे एक धार-सी वह गई । हाथीके चारों ओर केसरिया राज-पूतोंकी लाशोंका अम्बार खड़ा था । केसर फूली जमीनपर खुदाका शुक्रिया अदा करने जब औरंगजेब खड़ा हुआ तब जानमाजके नीचे दिल्लीका तख्त पड़ा था ।

“तख्तका नूर तुम हो,
मैं तो उसका चौखटा भर हूँ !”

जहाँगीरका अरमान पूरा हुआ । नूर-महल ‘नूरजहाँ’ बनी । तख्तकी रौनक बढ़ी । जहाँगीरने सल्तनतकी बागडोर नूरजहाँको सौंप दी । उसके लिए एक खुराक अफ्रीम और दो प्याले शराब काफ़ी थी ।

नूरजहाँने साम्राज्यकी बागडोर सम्भाली । नारीकी हुकूमतसे कुछ पेशानियोंपर बल पड़े, कुछ तेवर बदले, पर जहाँगीरकी शानमें किसीको कुछ कहने-करनेकी हिम्मत न हुई । फिर भी आग दबी-दबी सुलग रही थी, खासकर बेटोंके दिलोंमें ।

जहाँगीरने ज़िन्दा बापसे बग़ावत की थी । बड़ा बेटा खुसरू मचल बैठा । बापने बेटेकी पलकें सिलवा दीं । दूसरे बेटे खुर्रमने बड़े भाईको दक्खिन ले जाकर मौतके घाट उतार दिया । जहाँगीरका प्यारा था तीसरा बेटा परवेज़, इसलिए कि वह बापके बराबर ‘पी’ सकता था । खुर्रमको जहाँगीर पुचकार-पुचकार कर घूँट पीकर जी हल्का कर लेनेको कहता, पर खुर्रम जामसे मुँह न लगाता । उसका-सा गम्भीर, शालीन मर्द सारी सल्तनतमें न था । नूरजहाँको सबसे छोटा बेटा शहरयार प्यारा था जिसने उसकी बेटीको ब्याहा था ।

पर राजधानीमें नूरजहाँका भाई और खुर्रमका ससुर वज़ीर आज़म आसफ़खाँ दामादके हकोंका पहरूआ था । खुर्रम बादमें शाहजहाँके नामसे आगरेकी गद्दीपर बैठा । पर यह तबकी बात है जब अभी वह दक्खिनका सूबेदार था । उसने बग़ावत की, पर चोट उल्टी पड़ी । वह बिहार-

बंगाल भागा और वहाँ स्वतन्त्र मालिक हो जानेकी फ़िक्रमें लगा । पर वहाँसे भी दक्खिन भागकर उसे मालिक अम्बरकी शरण लेनी पड़ी । आगरेमें बापके पास बेटोंको रख देनेपर माफ़ी मिली ।

नूरजहाँने देखा कि कामयाबी मुश्किल है । अब वह सेनाके पीछे पड़ी । सेनापति महावतखाँ था । मलकाने उसे फोड़ना चाहा, पर वह अपनी जगहसे हिला तक नहीं । नूरजहाँ जल गई । उधर जब महावतखाँने देखा कि उसका गुस्सा उसकी जानको खतरेमें डाल सकता है, तब उसने नामुमकिन कर गुजरनेपर कमर बाँधी । जहाँगीर पंजाबमें था । काबुलकी बगावत दबानेके लिए जैसे ही वह झेलम बाँधने चला तभी महावतने हिम्मत कर उसे सहसा पकड़ लिया ।

जहाँगीरके जिस्मको कोई हाथ लगाये, यह नूरजहाँको कब गवारा हो सकता था । उसने फिर तो वह किया जो मर्दके लिए भी कठिन था, जिससे उसका नाम जवाँमर्दके इतिहासमें अमर हो गया ।

शेरनीकी तरह वह दुश्मनपर पंजा मारकर क़ैदसे निकल गई । महावतके सिपाही कुलाँचपर-कुलाँच मारते रहे, पर नूरजहाँ हाथ न आई । जहाँगीरकी शरीर-रक्षक सेनामें वह जा मिली । पतिके दुश्मनोंके विरुद्ध वह मुट्ठी भर शरीर-रक्षकोंको लेकर बढ़ी और हाथीपर बैठ उसका संचालन करने लगी । हाथमें उसके धनुष-बाण थे । पीठपर तरकश और गोदमें शहरयारकी नन्हीं बेटा, अपनी प्यारी नतिनी । आगसे खेल रही थी वह, पर नारी आगसे खेलनेसे कब हिचकी है ?

महावतकी सेनाने ऐसा कभी न देखा था, सहम गई । उसके बाँके राजपूत लड़ाईकी इस नयी स्थितिको देख किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये । आज्ञा पा नूरजहाँपर हमला करने चले फिर तो वह घटना घटी जिसे देख सूरजके रथके घोड़े चमक गये । ज़मानेने आँखें फाड़-फाड़ देखी वह लड़ाई, जिसे औरतने खुले मैदानमें हाथीपर सवार हो हिन्दुस्तानके सबसे बड़े सिपहसालारसे लड़ी ।

तख्तका नूर तुम हो, मैं तो उसका चौखटा भर हूँ ! २२५

महावतके राजपूतोंने नदीका पुल जला दिया । पर मलका रुकनेवाली न थी । वह नदीमें कूद पड़ी, हाथीके साथ । उसकी गिनी-चुनी फ़ौज भी झेलममें कूदी, सवार, पैदल सभी । जहाँ पानी थोड़ा था वहाँ भी भीड़ देखने लायक थी । सवार-से-सवार टकरा गये, हाथीसे हाथी, पैदलसे पैदल । हाथी-घोड़ोंका जमघट हो गया । राह मिलनी कठिन हो गई । जो गिरे फिर उठ न सके, घोड़ोंके खुरोंसे कुचल गये, हाथीके पैरोंके नीचे आ गये । कुछ डूब गये, कुछ बह गये, कुछ जान बचाकर भागे ।

दुश्मनका रख नूरजहाँपर था । सबसे खूँखवार हमला उसीपर हुआ । राजपूत जो मिलकर भाला फेंकें तो हाथीका मस्तक पार कर दें, उसपर चढ़ दौड़े । महावत उनके आगे था । राजपूतोंने उसके हाथीको घेर लिया । उसके रक्षक उन्होंने उसीके सामने काट डाले । उसके चारों ओर गोले फट रहे थे । हौदा तीरोंसे भर गया था । एक तीर आकर गोदमे बैठी शहरयारकी बच्चीके लगा, जिसने उसे ज़ख्मी कर दिया । नूरजहाँ जानपर खेल रही थी । लड़ना जूझनेसे कम न था, पर जब-जब उम बीच जहाँगीरकी क्रैद उसे याद आती तब-तब उसका क्रोध चण्डीका रूप धारण कर लेता । वह मैदानसे हिली नहीं । ढाल उसने बच्चीके ऊपर रख दी ।

दुश्मनोंने उसका महावत मार डाला । भालों और तीरोंकी चोटसे बिलबिला कर आखिर उसका हाथी भाग चला । सामने खतरा देख वह सहसा फिरा और झेलममें कूद पड़ा । डूबता-उतराता वह उस पार निकल गया जहाँ नूरजहाँकी बाँदियाँ मलकाके खतरेको देख छाती पीट रही थीं, धाड़ें मार रही थीं । रौतों-चीखतीं वे दौड़ीं और लौटे ज़ख्मी हाथीको घेर कर खड़ी हो गई । पर ज़ख्मोंसे भरी नूरजहाँको खूनसे भीगी हौदेमें जो बैठा पाया तो उनके ताज्जुबका ठिकाना न रहा । नूरजहाँ इतमीनानसे बैठी चीखती बच्चीके जिस्मसे तीर निकाल रही थी ।

पर दुश्मन सर न हुआ । बादशाह महावतखाँकी कैदमें पड़ा रहा । अब नूरजहाँने नीतिसे काम लेनेका निश्चय किया । साहस कर वह महावत

खाँके पास पहुँची और पतिकी कैदमें शामिल हो गई । धीरे-धीरे बादमें उसकी नीति फल निकली । फ़ौजके अफ़सर उसकी बहादुरी, हिम्मत और बेबसीसे विजित हो गये और एक दिन जहाँगीरने सहसा अपनेको आज़ाद और फ़ौजको सामने सिर झुकाये पाया । नूरजहाँकी आँखें मुसकरा रही थीं । जहाँगीरने पूछा—“रानी, कहा नहीं था कि तख्तका नूर तुम हो, मैं तो उसका चौखटा-भर हूँ ?”

नूरजहाँने उसके बालोंमें अपनी उँगलियाँ दौड़ा दीं । फिर तो काबुलकी मुश्किलें आसान होते ही शाही पड़ाव कश्मीरकी ऊँचाइयोंपर चढ़ चला, शालीमारके बहिस्ती बाग़में जा उतरा । सुकुमार हाथोंने फिर ऐसे गुलाबकी कलमें छाँटीं और उस झेलमकी केसरिया क्यारियाँ सम्हालीं, जिनका निचला बहाव अभी मलकाके लहूसे लाल था ।